भाषा का प्रश्न

श्री चंद्रबली पांडे, एम० ए०

भाषा का प्रश्न

लेखक

श्री चंद्रबली पांडे, एम० ए०

प्रकाशक

नागरीप्रचारिणी सभा,

काशी

प्रथम सं०, २०००] आश्विन, १९९६ [मूल्य ।।।)

प्रकाशक—
नागरीप्रचारिणी सभा
काशी

मुद्रक —
श्री अपूर्वकृष्ण वसु
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
बनारस-ब्रांच

वक्तव्य

इधर भाषा के प्रश्न को लेकर देश में नाना प्रकार के मत-मतांतर चल पड़े हैं। ऐसी स्थिति में सभा अपना यह धर्म समझती है कि हिंदी भाषा की प्रकृति, प्रवृत्ति एवं परंपरा का परिचय यथार्थ रूप में जनता को दे और राष्ट्र के नेताओं तथा साहित्य के सच्चे सपूतों का ध्यान कुछ इस ओर भी आकर्षित करे कि भाषा के समुचित विकास तथा राष्ट्रभाषा के परितः परिपाक के लिये उस रोग का निदान कितना अनिवार्य है जिसके कारण आज देश शीर्ण हो रहा है। जो लोग भाषा की परंपरा एवं हिंदी के इतिहास से भली भाँति परिचित हैं उनसे तो कदाचित् कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, परंतु जो लोग हिंदुस्तानी के पुजारी और किसी बनावटी भाषा के भक्त हैं उनसे हमारा निवेदन है कि वे कृपा कर भाषा के प्रश्न पर एक बार फिर विचार करें और प्रत्यक्ष देख लें कि देश या लोक के कल्याण के लिये उसकी भाषा की प्रवृत्ति कैसी हो और परंपरा के साथ उसका कैसा संबंध रहे।

इन लेखों को मनोयोग के साथ पढ़ने से स्पष्ट अवगत होगा कि भारत की परंपरागत राष्ट्रभाषा वर्तमान हिंदी है जिसे आरंभ में अँगरेजों ने हिंदुस्तानी भी कहा था पर पीछे से वे न जाने क्यों फारसी लिपि में लिखी भाषा को हिंदुस्तानी कहने लगे।

उर्दू वास्तव में देश की भाषा अथवा लोक की वाणी नहीं प्रत्युत उर्दू (देहली दरबार) की भाषा है। उसको राजभाषा फारसी की जगह नीतिवश दी गई और सच्ची राजभाषा के रूप में अँगरेजी चालू कर दी गई।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस।

रामबहोरी शुक्ल
प्रधान मंत्री

विषय-सूची

विषय

——

भाषा का प्रश्न



राष्ट्रभाषा की परंपरा

भारत की पतित दशा को देखकर किसी को इतना कहने का भी साहस नहीं होता कि भारत आज से नहीं, कल से नहीं, बल्कि न जाने कितने युगों से एकता के सूत्र में बँधा चला आ रहा है और फलतः आज भी प्रत्येक हिंदू प्रतिदिन और प्रति-घड़ी 'संकल्प' में 'जंबूद्वीपे भरतखंडे' का उद्घोष करता तथा 'अभिषेक' में देश की समस्त पूत नदियों का नाम लेता है। इतना ही नहीं, अपितु अपने जीवन में कम से कम एक बार भारत-भ्रमण अथवा देश के संपूर्ण तीर्थों का अवगाहन एवं चारों धामों की यात्रा अपना परम धर्म समझता है। फिर भी प्रमाद अथवा व्यामोह-वश दावे के साथ यदि यह पटु घोषणा की जाती है कि इसलाम के पहले भारत में कभी राष्ट्रभावना का उदय अथवा एकता का संपादन न हुआ तो इसके लिये हमारे पास दवा ही क्या है? किस प्रकार हम इस प्रकार के ज्ञान-

बंधुओं को सुझा सकते हैं कि भारत सदा से एकता में अनेकता का निर्वाह एवं अनेकता में एकता का विधान करता आ रहा है। 'एकोऽहम् बहु स्याम' की भावना और 'नेह नानास्ति किंचन' के निष्कर्ष में विदेशियों को विरोध दिखाई दे सकता है पर भारतीयों के लिये इसमें तनिक भी दोष लक्षित नहीं होता। यही उनका भजन तथा आत्मिक भोजन है।

समन्वय तथा सामंजस्य के आधार पर भारतवासियों ने भाषा के प्रश्न को भी निहायत आसानी से सुलझा लिया था। संस्कृत को 'प्रकृति' तथा अन्यों को 'विकृति' मान कर एक को अनेक कर दिया और फिर अनेक में से एक को प्रधानता दे उसे चलित राष्ट्रभाषा के रूप में अपना लिया। इस तरह भाषा का प्रश्न स्वतः हल हो गया। विनाश किसी का नहीं, पर विकास सब का हुआ।

भारत में इसलाम के जम जाने तथा उसके बाद फिरंगियों के प्रबल हो जाने के कारण 'भाषा' की प्रवृत्तियों में जो परिवर्त्तन हुए उनके निदर्शन तथा परितः परिशीलन के लिये उसकी परंपरा से भली भाँति परिचित हो जाना अनिवार्य है। अतएव यहाँ पर थोड़ा 'भाषा' की परंपरा पर विचार किया जायगा और यह स्पष्ट दिखा देने की कुछ चेष्टा की जायगी कि किस प्रकार उसी पद्धति पर चलने से आज भी भाषा का प्रश्न स्वतः सिद्ध हो जाता है। उसके समाधान के लिये किसी आंदोलन की आवश्यकता नहीं पड़ती। राष्ट्रभाषा के उत्कर्ष में सभी देशभाषाओं की उन्नति स्वयं हो जाती है।

श्रुतियों को अलग रखिए। वाल्मीकीय[1] रामायण के अव-लोकन से अवगत होता है कि उस समय संस्कृत समस्त देश की राष्ट्रभाषा थी। दक्षिण के द्रविड़ देशों में भी उसका प्रचार था। वानरवर हनूमान, सीता की खोज में, समुद्र पार कर लंका पहुँच गए हैं; राक्षसियों से घिरी संतप्त सीता की सांत्वना के लिये सोच में पड़ गए हैं :—

निशाचरीणां प्रत्यक्षमक्षमं चाभिभाषितुम्।
कथं नु खलु कर्तव्यमिदं कृच्छ्रगतो ह्यहम्॥
अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्॥
यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥

(सुंदरकांड ११ सर्ग, १७-१८ श्लोक)

भाषा के विचार से प्रस्तुत अवतरण बड़े महत्त्व का है। संस्कृत के प्रसंग में इसका प्रायः उल्लेख किया जाता है। इसमें मनुष्य, वानर तथा राक्षस की एक सामान्य भाषा का विधान है। सीता, हनूमान और रावण सभी जिस भाषा का परस्पर

१—वाल्मीकीय रामायण के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। प्रथम तथा सप्तम कांड प्रक्षिप्त माने जाते हैं। शेष की प्राची-नता में किसी को संदेह नहीं। यहाँ पर जो अवतरण प्रस्तुत किए गए हैं वे मूल पाठ से हैं जो कम से कम ईसा से ५ या ६ सौ वर्ष पहले के हैं।

प्रयोग करते हैं उसका नाम संस्कृत है। इस संस्कृत वाणी के भी दो रूप हैं—द्विजी और मानुषी। वानरवर हनूमान् द्विजी भाषा का प्रयोग इसी लिये नहीं करते कि कहीं सीता उन्हें मायावी रावण न समझ लें। निदान निश्चित कर लेते हैं कि मानुषी भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

उक्त मानुषी भाषा हनूमान् की निजी भाषा न थी। संसर्ग या संपर्क में आ जाने के कारण उन्हें इसका बोध हो गया था। अध्ययन तथा अभ्यास के कारण उन्हें इसके द्विजाति रूप का भी पूरा पूरा पता था। उसके व्यवहार में भी वे निपुण हो गए थे। उनके द्विजातिभाषण के विषय में राम की सम्मति है :—

नानृग्वेद[1]विनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरताऽनेन न किंचिदपशब्दितम्॥
न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित्॥

१—वेदों के उल्लेख से प्रकट होता है कि वानरवर हनूमान् की संस्कृत वाणी वैदिक भाषा की परंपरा में थी। आर्येतर जातियों में भी वेद का पठन-पाठन होता था। आधुनिक संशोधकों ने हनूमान् को द्रविड़ देवता सिद्ध किया है और द्रविड़ों को ही वानर का पर्याय माना है।

वेदवाणी किस प्रकार संस्कृत बन गई इसका कुछ आभास प्रकृत अवतरण में मिल जाता है। भाषाविदों के लिये यह बड़े काम का है।

अविस्तरमसंदिग्धमविलंबितमव्ययम् ।
उरःस्थं कंठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ॥
संस्कारक्रमसंपन्नामद्भुतामविलंबिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम् ॥

(कि० कांड २८-३२)

तात्पर्य यह कि विजातीय हनूमान का भाषण शिक्षा, संस्कार, चल, काकु, उच्चारण आदि भाषा के सभी अंगों से परिपुष्ट था। वाग्धारा उनकी वाणी से प्रवाह के रूप में फूट पड़ती थी। वह सहज, स्वच्छ, निर्मल तथा प्रसन्न थी। प्रयत्न अथवा बनावट की उसमें गंध भी न थी। संक्षेप में वह द्विजाति या शिष्ट भाषा थी। वह शिष्ट भाषा थी जिसका व्यवहार शिष्टाचार तथा बातचीत में भी होता था। पोथियों के अतिरिक्त वार्तालाप में भी उसका प्रचार था।

वाल्मीकि की द्विजी या शिष्ट भाषा ने और भी शिष्ट रूप धारण कर लिया। पाणिनि (ईसा के लगभग ४ सौ वर्ष पहले) के प्रयत्न से वह सचमुच संस्कृत हो गई। उनके संस्कार से संस्कृत 'संस्कृता वाक्' की जगह केवल 'संस्कृत' रह गई और विशेषण के बदले संज्ञा के रूप में चल पड़ी। 'मानुषी संस्कृता वाक्' की भी कुछ यही दशा हुई। उसको 'प्राकृत' की संज्ञा मिली। पाणिनि[१]-शिक्षा में कहा गया है :—

१—Wilson Philological Lectures on Marathi, H. N. Apte, Poona 1922 पृ० ५ पर अवतरित।

"त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शंभुमते मताः ।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा ॥"

पाणिनि के संबंध में प्रवाद है कि उन्होंने संस्कृत की तरह प्राकृत का भी व्याकरण लिखा। केदारभट्ट का स्पष्ट निर्देश है :—

"पाणिनिर्भगवान् प्राकृतलक्षणमपि व्यक्ति संस्कृतादन्यत् ।"

(हिंदी विश्वकोष, भाग १४, पृ० ६७५)

'प्राकृतलक्षण' नामक एक प्राकृत व्याकरण मिला है जिसके प्रणेता चंड नामक एक सज्जन हैं। चंड के[१] व्याकरण को हम पाणिनि-प्रणीत नहीं कह सकते। पर इसी के आधार पर सहसा यह भी निश्चित नहीं कर सकते कि पाणिनि ने प्राकृत का व्याकरण लिखा ही नहीं। संभव है कि उन्होंने अपने समय की शिष्ट तथा चलित दोनों ही भाषाओं का व्याकरण लिखा हो और उन्हें बाहरी[२] प्रभाव से सुरक्षित रखने

१—चंडप्रणीत व्याकरण को हार्नली ने वररुचि के 'प्राकृत-प्रकाश' से पुराना माना है, पर कोई ठीक समय निश्चित नहीं किया है। उनका कहना है :—

"It would be, however, going too far, I think, to ascribe that grammar to the third century B. C. Probably it was composed at a somewhat later time. (Calcutta A. S. 1880 Part I Introduction P. XXI)

२—ध्यान देने की बात है कि ईसा के लगभग ४ सौ वर्ष पहले पाणिनि के प्रांत पर पारसीकों का अधिकार हो गया था और वह एक प्रकार से उनका अड्डा बन रहा था।

का प्रयत्न किया हो। जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि उन्होंने जीती-जागती भाषा का व्याकरण लिखा है, कुछ मरी या पिंगल की भाषा का नहीं।

पाणिनि ने 'भाषा' को इस ढंग से ढाल दिया कि वह बराबर उसी ढर्रे पर चलती रही, कभी स्थिर या निर्जीव न हुई। पाली तथा प्राकृतों के प्रभुत्व में आ जाने पर भी वह निष्प्राण न हुई बल्कि उनसे शक्ति ग्रहण करती रही और फिर उनकी जगह जन-सामान्य में चल निकली। भारत में इसलाम के जम जाने के पहले वही संपूर्ण भारत की शिष्ट राष्ट्रभाषा थी। उसके भी दो रूप थे। काव्यगत रूप को लेकर संस्कृत को भले ही गढ़ंत भाषा कह लें, पर उसके कथा-पुराण-रूप को देखकर आपको मानना पड़ेगा कि वह चलित और व्यवहार की भाषा है। जनता उसके भाव को समझती है और उसके कथा-प्रसंगों को बड़े चाव से सुनती है।

वाल्मीकि की मानुषी भाषा ब्राह्मी या ब्रह्मर्षि देश की लपित या बोलचाल की भाषा थी। धीरे धीरे उसका प्रसार अन्यत्र भी हो गया था। उसका शिष्ट रूप तो अनुशासित होने के कारण एकरूप हो गया था पर उसका प्राकृत रूप सदैव परिवर्तन-शील था। इसी परिवर्त्तनशीलता के कारण एक ही भाषा के अनेक देशगत रूप हो गए थे। वैयाकरणों ने सुभीते के लिये उन्हें 'प्राकृत' की उपाधि दी और व्याकरण लिखते समय इस बात का बराबर ध्यान रखा कि संस्कृतज्ञ उनको आसानी से समझ लें और समय पड़ने पर संस्कृत को प्राकृत के रूप में ढाल दें।

प्राकृतों के महत्त्व का प्रधान कारण यह हुआ कि व्रात्यों में दो ऐसे पंथ निकल आए जो परंपरा के पालन करने अथवा ब्राह्मण भक्त बनने में उतना प्रसन्न न थे जितना कि अपना मार्ग निकालने या मनुष्य मात्र को निर्वाण दिलाने में मग्न। निदान उन्होंने 'द्विजी' को त्याग 'मानुषी' को अपना लिया और मनुष्य-वाणी में 'सद्धर्म' का प्रचार करना उचित समझा।

जैनों ने महावीर स्वामी के आदेश पर अर्द्धमागधी तथा बौद्धों ने गौतम के आग्रह से मागधी का पक्ष लिया। जैन संप्रदाय को कभी व्यापक रूप नहीं मिला। वह बहुत कुछ भारत के कोनों में पड़ा रहा और समय समय पर अपना रूप इधर-उधर दिखाता रहा। संकीर्णता के कारण वह अधिक तत्पर तथा सुरक्षित था। अतएव संस्कृत के बहिष्कार में पहले तो उसे अच्छी सफलता मिली, किंतु बाद में उसे भी संस्कृत को अपनाना ही पड़ा। संस्कृत उसकी भी धर्मभाषा हो गई। पंडितों में 'जैन-संस्कृत' का नाम चालू हो गया।

अशोक प्रभृति शासकों के प्रयास से बौद्धमत भारत का मुख्य मत हो गया। विदेशों में भी गौतम के सद्धर्म का प्रसार हुआ। आरंभ में 'मागधी' का व्यवहार रहा, पर संप्रदाय की माँग उससे पूरी न हो सकी। मागधी थी भी 'मानवी भाषा'। स्वयं गौतम की प्राकृत वाणी उससे भिन्न थी। मगध में बौद्ध-मत के विकास के कारण कहीं कहीं मागधी को 'पाली' कह दिया गया है, नहीं तो वस्तुतः वह पाली से सर्वथा भिन्न भाषा—मगध की देश भाषा थी। यही कारण है कि बौद्ध

ग्रंथों में उसे तो मानव भाषा कहा गया है और पाली को देव-गण[1] तथा बुद्धगण की भाषा।

देववाणी के विषय में भूलना न होगा कि वस्तुतः वह ब्रह्मावर्त्त[2] देश की वाणी है। इसी से उसे ब्राह्मी[3] भी कहा जाता है। वाणी के जो 'सरस्वती', और 'भारती' पर्याय चल पड़े हैं उनसे भी सिद्ध होता है कि भारत की राष्ट्रभाषा का नाम भी भारती और देववाणी इसी लिये पड़ा कि वह भरत की संतानों यानी भारतों की भाषा तथा सरस्वती और दृषद्वती के मध्य देवनिर्मित देश की वाणी थी। 'बुद्धगण' की वाणी को भी देववाणी इसी लिये कहा गया होगा कि वस्तुतः वह इसी देववाणी की विकृति थी।

अस्तु, निवेदन यह करना था कि जब बौद्धों को एक व्यापक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता पड़ी तब स्वभावतः उनकी दृष्टि उस भाषा पर पड़ी जो न जाने कितने दिनों से शिष्ट तथा चलित रूपों में समस्त देश की राष्ट्रभाषा थी और जिसका प्रचार आधुनिक भारत से कुछ बाहर भी था। उसके शिष्ट रूप का ग्रहण तो इसलिये संभव न था कि वह द्विजों की वाणी थी और जनता से कुछ दूर थी। मागधी का प्रसार इसलिये असंभव था कि

१—हिंदी विश्वकोष, पाली।

२—"सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते"॥ (मनु० २।१७)

३—महाभारत में 'ब्राह्मी' का व्यवहार बराबर पाया जाता है।

वह प्रांतीय तथा अति सामान्य भाषा थी। निदान निश्चित हुआ कि देववाणी के चलित या मानुषी रूप को ग्रहण किया जाय और उसी में 'बुद्धवचन' का संग्रह भी कर दिया जाय।

ब्रह्मर्षिदेश[1] की चलित वाणी में बुद्धवचन का संपादन तो हो गया किंतु मगध के प्रभुत्व एवं मागधी के संसर्ग के कारण उसमें कुछ मागधी रूप भी आ गए। बौद्धों में उक्त पंक्तियों का इतना सम्मान बढ़ा कि बात-बात में उनकी दुहाई दी जाने लगी। नतीजा यह हुआ कि 'पंक्ति' घिसघिसा कर 'पालि' या 'पाली' हो गई। आज भी पंडितमंडली में 'पंक्ति' की चर्चा कुछ कम नहीं होती। जिससे 'पंक्ति' अच्छी तरह लग गई वही चट अच्छा पंडित हो गया।

पाली के प्रकृत विवेचन से प्रकट होता है कि वास्तव में पाली पंक्ति या लिखित भाषा थी। अतः हम उसे कहीं की शुद्ध लपित भाषा नहीं कह सकते। हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि वह ब्रह्मर्षिदेश की चलित भाषा के आधार पर बनी थी और

१—ब्रह्मर्षिदेश की जगह प्रायः मध्यदेश का प्रयोग किया जाता है, पर वह ठीक नहीं है। मध्यदेश की सीमा बराबर घटती बढ़ती रहती है। पूर्व में कभी प्रयाग और कभी वाराणसी तक मध्यदेश कहा गया है। लेकिन ब्रह्मर्षिदेश की सीमा सदा स्थिर और शुद्ध पश्चिमी हिंदी के भीतर रही है। मनुस्मृति में लिखा है :—

"कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः" ॥ (२।१९)

सांप्रदायिक आग्रह के कारण कुछ मागधी भी हो गई थी। बौद्धकाल की वही राजभाषा भी थी और चलित राष्ट्रभाषा भी।

पाली के प्रभुत्व में आ जाने का परिणाम यह हुआ कि द्विजी भाषा से लोग कुछ विरक्त से हो चले और प्राकृतों को विशेष महत्त्व देने लगे। पाणिनि के परिश्रम को सफल करने के लिये द्विजों ने उसे और भी द्विजी कर दिया। संस्कृत तथा प्राकृत का भेद बढ़ता रहा। उसको मिटाने की कभी व्यर्थ चिंता न हुई। प्राकृतों का लेखा लिया गया और संस्कृत के आधार पर उनका व्याकरण भी रचा गया।

उधर बौद्धों ने देख लिया कि शाक्यमुनि ने द्विजी भाषा का निषेध किया था जनता के कल्याण अथवा लोक-मंगल के लिये, कुछ द्विज-द्वेष या प्राकृत-प्रेम के लिये नहीं। अब द्विजों को परास्त करने के लिये, तर्क द्वारा सुभाकर अपने संघ में लाने के लिये तथा शास्त्रार्थ एवं शास्त्रचिंतन के लिये तो अवश्य ही द्विजी भाषा का प्रयोग करना चाहिए। संस्कृत के अतिरिक्त किसी अन्य मानुषी भाषा में इतनी क्षमता कहाँ कि वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का निदर्शन करे और बाल की खाल निकाल कर तथ्य को सबके सामने साफ रख दे। निदान उन्हें भी संस्कृत का स्वागत करना पड़ा। उनके योग से संस्कृत पनप उठी और 'गाथा' के रूप में उसकी एक अलग शाखा निकल आई। हीनयानियों ने तो पाली का पिंड पकड़ना अपना धर्म समझा पर महायानियों ने अपनी महत्ता के कारण उसकी उपेक्षा की और लोक-मंगल के लिये संस्कृत को उभार दिया। संस्कृत अपनी उदारता एवं

संपन्नता के कारण सार्वभौम राष्ट्रभाषा बन गई। जैनों ने भी उसे अपना कर उसके राष्ट्रपद की प्रतिष्ठा की।

संस्कृत को पूरा पूरा पता था कि सरल और बोधगम्य होने पर भी वह जनता की सहज या जन्मभाषा नहीं है। शिष्टों के समाज में प्रतिष्ठित होने के कारण उसकी मर्यादा स्थिर हो गई है। वह जनता के बीच स्वच्छंद विचर नहीं सकती। उस पर शब्दानुशासकों की कड़ी और अत्यंत पैनी दृष्टि है। निदान उसका कर्तव्य हुआ कि लोकवाणी का आदर करे, प्राकृत-भाषा को महत्त्व दे। उसकी उन्नति में अपनी उन्नति समझे।

देशकाल के प्रभाव से प्राकृत भाषा के अनेक भेद हो गए थे। लक्ष्मीधर (१६वीं शती ई०) ने इसका संकेत इस प्रकार कर दिया है :—

"त्रिविधा प्राकृती भाषा भवेद्देश्या च तत्समा।
तद्भवा च भवेद्देश्या तत्र लक्षणमंतरा॥
तत्समा संस्कृतसमा नेया संस्कृतवर्त्मना।
तद्भवा संस्कृतभवा सिद्धा साध्येति सा द्विधा॥
द्विविधायाश्च सिद्ध्यर्थं प्राकृतं लक्षणं मतम्।

(षड्भाषाचंद्रिका १।४७,४८)

'तत्समा' प्राकृतभाषा के विवेचन से व्यक्त होगा कि वैयाकरणों ने व्यर्थ ही संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति नहीं कहा है, प्रत्युत बहुत कुछ सोच-समझकर यह सूत्र निकाला है कि प्राकृत भाषा की प्रकृति वास्तव में संस्कृत ही है—वही संस्कृत जिसको

वानरवर हनूमान् ने 'मानुषी संस्कृत' कहा है, कुछ द्विजाति-संस्कृत नहीं।

संस्कृत वाणी में कुछ ऐसे रूप थे जो द्विजों और मनुष्यों में समान रूप से प्रचलित थे। आचार्यों ने भाषा के उन्हीं रूपों की एकता के कारण तत्समा प्राकृत का उल्लेख किया और स्पष्ट कह दिया कि उसके अलग व्याकरण की आवश्यकता नहीं, वह सदैव संस्कृत के साथ है। रही 'तद्भवा' की बात। उसके विवेचन में विचार करना होगा कि तत्समा में किन विकारों के आ जाने से कौन सी तद्भवा बन जाती है और वह किस देश में बोली जाती है, किसी तद्भवा के अभ्यास के लिये किन रूपों में परिवर्त्तन कर दिया जाता है और प्रसंग आने पर किस नियम से संस्कृत को प्राकृत बना दिया जाता है—संक्षेप में, संस्कृत किस प्रकार प्राकृत बन जाती है। 'देश्या' के संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि वैयाकरणों ने अनार्यों की मूल देश्या या ठेठ देशी भाषा का विचार नहीं किया है बल्कि आर्यों की तद्भवा के देशगत रूप को देशभाषा का नाम दिया है और उसे उक्त प्रांत की भाषा कहा है। वैयाकरणों की मागधी का अर्थ मगध देश की मूलभाषा नहीं बल्कि मगध में प्रचलित तद्भवा भाषा है, अर्थात् वह आर्य भाषा है जो आर्यों के साथ मगध में फैल गई और देशकाल के प्रभाव से कुछ से कुछ और ही हो गई। उसके रूप में बहुत से विकार उत्पन्न हो गए।

प्रकृत विवेचन के आधार पर अब हम आसानी से समझ सकते हैं कि 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्'

का रहस्य क्या है। 'प्राकृतम्' का अर्थ है प्राकृत मात्र की भाषा नहीं प्रत्युत आर्यों के प्राकृत जनों की वाणी, प्राकृत आर्यों की वह भाषा जो देशकाल के प्रभाव से विकृत हो गई थी और स्थानीय अनार्यों के संपर्क में आ जाने से कुछ रूप, काकु तथा उच्चारण में भी बदल गई थी।

संस्कृत के प्रसंग में हम पहले ही देख चुके हैं कि उसके 'मानुषी' तथा 'द्विजी' दो रूप थे। द्विजी संस्कृत वाणी ने आगे चलकर शिष्ट संस्कृत का रूप धारण कर लिया और मानुषी संस्कृत ने मूल निवासियों से मिलकर 'प्राकृत' की पदवी प्राप्त कर ली। प्राकृतों के प्रभुत्व में आ जाने से प्राकृत भाषाओं को महत्त्व मिला और काव्य-भाषा में उनकी भी गणना हुई। प्राकृत काव्यभाषा तो हो गई पर प्राकृत कवि न हो सके। उनकी भाषा पंडितों के हाथ में पड़ी और संस्कृत प्राकृत के रूप में पोथियों में दीख पड़ने लगी। आज हमारे सामने यही व्यवस्थित प्राकृत है। हम इसे प्राकृतों की मूलवाणी नहीं कह सकते। यह तो शिष्ट प्राकृत है। अवश्य ही इसकी प्रकृति संस्कृत है—अधिकांश शिष्ट संस्कृत। अतएव वैयाकरणों का यह दावा कि संस्कृत प्रकृति तथा प्राकृत विकृति है सर्वथा साधु है। उनको फटकारने के पहले एक बार अपने दावे को भी अच्छी तरह फटक लेना चाहिए। उनको परास्त करने के लिये संस्कृत तथा प्राकृत का धात्वर्थ पर्याप्त नहीं है। वानरवर हनूमान् ने 'मानुषी वाक्' को भी 'संस्कृता' कहा है, 'प्राकृता' नहीं। अस्तु, इससे सिद्ध होता है कि उस समय मानुषी वाक् को भी संस्कृत ही कहते थे, प्राकृत नहीं।

वैयाकरणों ने तो संस्कृत तथा प्राकृत के पारस्परिक संबंध को भली भाँति निभा दिया, किंतु सांप्रदायिकों को उससे संतोष न हुआ। बौद्धों ने मागधी तथा जैनों ने अर्द्धमागधी को मूल-भाषा अथवा प्रकृति कहा। प्राकृत तथा संस्कृत के धात्वर्थ में जो प्रकृति एवं संस्कृति का विधान है उससे उन्हें सहायता मिली और संस्कृत का पक्ष निर्बल हो गया। बहुतों ने प्राकृत को प्रकृति मान लिया और संस्कृत को निपट बनावटी या गढ़ंत भाषा कह दिया। परंतु, जैसा कि हम देख चुके हैं, उनके इस विचार में कुछ सार नहीं है। स्वतः संस्कृत ब्राह्मी या देववाणी है। इसी देववाणी का मानुषी रूप प्राकृत है जिसके न जाने कितने देशगत रूप हो गए हैं। अतः हम नमिसाधु (१०६९ ई०) के इस निष्कर्ष से कभी सहमत नहीं हो सकते कि

"शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि।"

(श्री रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार, म० २, पद्य १२ की टीका)

विचार करने की बात है कि आचार्य हेमचंद्र (१०८८ से ११७२ ई०) ने नमिसाधु की देखा-देखी अपने काव्यानुशासन के मंगलाचरण में तो 'जैनी वाणी' को 'सर्व्वभाषा परिणता' कह दिया है पर अपने 'हैमव्याकरण' में स्पष्ट संस्कृत को प्रकृति तथा प्राकृत को विकृति माना है। उनकी उक्ति है :—

"प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्।"

अस्तु, यह निर्विवाद है कि संस्कृत तथा प्राकृत का विकास एक ही मूलभाषा अर्थात् ब्राह्मी से हुआ है। यदि प्राकृत तथा संस्कृत की प्रकृति और संस्कृति को सामने रख कर प्राकृत प्रश्न

पर विचार करें तो भी किसी प्रकार यह सिद्ध नहीं हो सकता कि 'अद्धमागहा' या कोई अन्य प्राकृत भाषा ही उक्त प्रकृति है। सच बात तो यह है कि जैनों के आदि आचार्य ऋषभदेव की वाणी 'अद्धमागहा' न थी। वह महावीर स्वामी की 'अद्ध-मागहा' से भिन्न 'ब्राह्मी' या ब्रह्मावर्त देश की वाणी थी। उसी का प्रचार ऋषभदेव ने किया था। वही 'जैनी वाणी' की भी प्रकृति थी।

सांप्रदायिकों ने जहाँ मागधी और अर्द्धमागधी पर जोर दिया वहाँ वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को सराहा। कुछ की तो धारणा ही यह हो गई कि महाराष्ट्री ही वास्तव में मूल प्राकृत है। श्रीराम शर्मा ने स्पष्ट कह दिया कि महाराष्ट्री ही 'हेतुभूत भाषा' है :—

"सर्वासु भाषास्विह हेतुभूतां भाषां महाराष्ट्रभवां पुरस्तात्।
निरूपयिष्यामि यथोपदेशं श्रीरामशर्माहमिमां प्रयत्नात्॥"

(हि० वि० को०, भा० १४ पृ० ६७५)

महाराष्ट्री के 'महा' शब्द के जोर पर कुछ लोगों ने महाराष्ट्री को व्यापक राष्ट्रभाषा मान लिया है और अपनी प्रतिज्ञा को पुष्ट करने के लिये वैयाकरणों का प्रमाण दिया है। किंतु परितः परिशीलन से पता चलता है कि व्याकरण में महाराष्ट्री की प्रधानता का कारण कुछ और ही है। 'प्राकृत-प्रकाश' में जिन प्राकृतों का विवेचन किया गया है उनमें महाराष्ट्री मुख्य है। वररुचि ने महाराष्ट्री का निरूपण कर शेष प्राकृतों का परिचय उसी के आधार पर दे दिया है। किंतु महाराष्ट्री को किसी की प्रकृति नहीं कहा है। प्रत्युत पैशाची तथा मागधी की प्रकृति

शौरसेनी को ठहराया है और शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत को मान लिया है। सचमुच संस्कृत ही प्राकृतों की परंपरागत प्रकृति है। उसी के मानुषी रूप से उनका विकास हुआ है।

आचार्य दंडी (६०० ई० के लगभग) ने अपने काव्यादर्श में इस उलझन को कुछ सुलझा दिया है। उनका कथन है :—

"महाराष्ट्रोद्भवां भाषां प्रकृष्टप्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयः॥"

(प्र० परिच्छेद, पद्य ३४)

आचार्य ने व्यक्त कर दिया है कि महाराष्ट्री की प्रकृष्टता का कारण उसका काव्य है। जिस प्राकृत में सेतुबंध जैसे सूक्ति-सागर मौजूद हों उसे उत्कृष्ट क्यों न कहा जाय।

काव्य में महाराष्ट्री के प्रकर्ष का कारण था उसका साहित्य और उसके साहित्य के उत्कर्ष के विधाता थे 'हालसातवाहनादिनामा शकप्रवर्तकः शालिवाहनः। येन च गाथासप्तशती संकलिता।'

(साहित्यदर्पण, निर्णयसागर १९२२ ई०, भूमिका पृ० ५८)

शालिवाहन प्राकृत के परम प्रेमी थे। उनके शासन में सभी प्राकृतभाषी हो गए थे। प्राकृत की प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि स्वतः शालिवाहन संस्कृत में कच्चे रह गए। कहा जाता है कि एक दिन जल-क्रीड़ा के समय किसी रमणी ने जल के छींटों से तंग आकर उनसे प्रार्थना की थी कि 'मोदकं देहि।' प्राकृत-प्रेमी शालिवाहन को 'मा + उदकं' का भान न हो सका और उन्होंने चट उसके सामने लड्डू पेश कर दिया। रमणियाँ

हँस पड़ीं। शालिवाहन कटकर रह गए। संस्कृत सीखने की ठान ली।

शालिवाहन की सभा में गुणाढ्य नामक एक पंडित थे। संस्कृत-शिक्षा के लिये राजा का उन पर ध्यान गया। इसके लिये उन्हें ६ वर्ष की आवश्यकता पड़ी। सौभाग्य से वहीं शर्ववर्मा भी मौजूद थे। उन्होंने ६ महीने में संस्कृत सिखा देने का दावा किया और इसके लिये एक कातंत्र नामक व्याकरण भी रच डाला। राजा को प्रसन्न करने के लिये गुणाढ्य ने पैशाची प्राकृत में 'वड्डकहा' का सृजन किया।

प्रकृत प्रवाद में पते की बात यह है कि गुणाढ्य ने महाराष्ट्री में रचना करना पसंद नहीं किया। वलिक उससे भिन्न एक दूसरी प्राकृत अर्थात् पैशाची में एक 'बृहत्कथा' रची। कारण प्रत्यक्ष है। पैशाची शालिवाहन की जन्मभाषा थी। शकादिकों के साथ उसका भी प्रवेश दक्षिण में हो गया था। शालिवाहन की औरस ममता उसी के साथ थी। निदान गुणाढ्य ने प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिये पैशाची की शरण ली और उसकी कृपा से वे सफल-मनोरथ भी हो गए।

पैशाची के इस प्रकर्ष को देखकर सहसा यह न समझ लेना चाहिए कि कभी वही भारत की मानुषी राष्ट्रभाषा थी। पैशाची को हम कुछ काल के लिये व्यापक राजभाषा के रूप में पाते अवश्य हैं, पर इसी से उसे कभी व्यवस्थित राष्ट्रभाषा कह नहीं सकते। हाँ, शकादि शासकों के साथ मध्य तथा दक्षिण भारत में उसका प्रवेश हो गया और फलतः कहीं कहीं की वही प्रधान

राजभाषा भी हो गई। परंतु आगे चलकर विदेशियों की भाँति वह भी सर्वथा स्वदेशी बन गई और वहाँ की भाषा में मिल जुल कर वहीं की हो रही।

पैशाची के परीक्षकों ने उसके देश के अन्वेषण में कुछ गड़-बड़ी कर दी है। उन्होंने इस बात की तनिक भी चिंता नहीं की कि पैशाची देशभाषा के अतिरिक्त राजभाषा भी है। पैशाची के विषय में प्राचीनों का मत है कि वह विंध्य या विंध्य की पड़ोसिन भाषा है। राजशेखर (९वीं शती) ने काव्यमीमांसा में एक प्राचीन पद्य उद्धृत किया है। इसमें स्पष्ट लिखा है—

"आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते"

(अ० १०, प० ५१)।

इसके सिवा 'कवि-समाज' में—

'दक्षिणतः भूतभाषाकवयः'

का विधान किया है। भूतभाषा से उनका तात्पर्य पैशाची है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

"तत्र पिशाचादयः शिवानुचराः स्वभूमौ संस्कृतवादिनः मर्त्ये तु भूतभाषया व्यवहरन्तो निबन्धनीयाः।" (वही पृ० २९)। अतएव राजशेखर के प्रमाण पर दक्षिण भूतभाषा का प्रांत ठहरता है और विंध्य-प्रदेश से उसका परंपरागत संबंध सिद्ध हो जाता है। किंतु इस प्रतिज्ञा में अड़चन यह आ जाती है कि दक्षिण महाराष्ट्री का क्षेत्र है। वहाँ की भाषा का पुराना तथा प्रचलित नाम पैशाची या भूतभाषा नहीं, प्रत्युत दाक्षिणात्या प्राकृत है। लक्ष्मीधर ने साफ साफ कह दिया है—

"तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्रोद्भवं विदुः"

(षड्भाषाचंद्रिका १।२७)।

शालिवाहन के प्रसंग में हमने देख लिया है कि उसके शासन में प्राकृत का बोलबाला था। उसके प्रभुत्व से सभी प्राकृतभाषी[1] बन गए थे। स्वयं उसने 'गाहा सत्तसई' की रचना की थी और वह 'कविवत्सल'[2] की उपाधि से विभूषित हुआ था। किंतु उसके प्राकृत-प्रेम के प्रसाद से पैशाची भी लिपिबद्ध हो गई थी और उसमें एक 'वड्डकहा' भी बन गई थी। प्राकृत तथा पैशाची के इस संबंध को स्पष्ट करना अनिवार्य है। इसके बिना प्रकृत गुत्थी सुलझ नहीं सकती।

पैशाची पिशाचों की भाषा है। वृद्धों के कथनानुसार पिशाच-देश हैं:—

"पाण्ड्यकेकयबाह्लीकसिंहनेपालकुन्तलाः।
सुधेष्णभोजगान्धारहैवकन्नोजनास्तथा॥"

(षड्भाषाचंद्रिका १।२६)

वृद्धों ने किस दृष्टि को सामने रखकर उक्त जनपदों को पिशाच-देश कहा है, इस पर वाद-विवाद करने की जरूरत

१—भोजराज ने ठीक ही कहा है—

"केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः॥" (सर० २।१५)

२—"सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीय मज्झरुमारम्मि।
हालेण विरइआइं सालंकाराणं गाहाणम्॥" (गाथा-सप्तशती)

नहीं। कोई भी मनीषी उनको किसी निश्चित सीमा के भीतर घेर नहीं सकता। हम उन्हें प्रत्यक्ष ही छिट-फुट रूप में पाते हैं। अतएव हमारी धारणा है कि प्रस्तुत प्रसंग में पिशाच देश का अर्थ है पिशाचों का देश अर्थात् वे देश जिनमें पिशाचों की प्रधानता हो।

पिशाच शब्द की निरुक्ति के विषय में सहसा कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। पैशाची के परम संशोधक सर जार्ज[१] ग्रियर्सन भी उसके निरूपण में असमर्थ ही रहे हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि पिशाचों की गणना शिवानुचरों में की गई है और उनकी स्वभूमि-भाषा संस्कृत कही गई है। हमारी धारणा है कि शकादि जातियों के पिशाच-रूप को देखकर उन्हीं को पिशाच की संज्ञा दी गई और शैव होने के कारण उन्हें शिवानुचर भी कह दिया गया। राष्ट्र का शासन-सूत्र जब उनके हाथ में आ गया तब उन्हें भी शिष्टता के अनुरोध से संस्कृत-भाषी बनना पड़ा। पुराविदों को पूरा पूरा पता है कि 'क्षत्रप', जो वास्तव में शक या पिशाच थे, संस्कृत का[२] व्यवहार करते

१—Linguistic Survey of India Vol. I Part I Introductory P. 108.

२—महाक्षत्रप रुद्रदामन के उत्कीर्ण लेख (१५०-२ ई०) की मीमांसा में कीथ महोदय कहते हैं :—"But what is far more important is that the author thinks it fit to ascribe to the king the writing of poems in both prose and

थे। उनकी स्वभूमि में संस्कृत की प्रतिष्ठा थी। परंतु उनमें से जो दूर बस गए थे उनकी भाषा वही पैशाची रह गई थी अथवा वे देशगत प्राकृतों का व्यवहार करते थे। शालिवाहन इसी ढंग के शासक थे। उन्हीं के शासन के कारण 'कुंतल' पिशाचदेश कहा गया है।

कुंतल के शालिवाहन को संस्कृत-प्रेमी बनाने के लिये जो 'मोदकं देहि' का अस्त्र निकाला गया वह निष्फल न गया। शर्ववर्मा ने कातंत्र नामक सरल संस्कृत व्याकरण का सृजन किया और शालिवाहन संस्कृत में पारंगत हो गए। धारानगरी के भोजराज (१०१८-१०५६ ई०) को भी संस्कृत-भाषण का शौक था। एक दिन आपने एक दरिद्र ब्राह्मण को कंधे पर लकड़ी ढोते देखकर प्रश्न किया :—

"भूरिभारभराक्रान्त बाधति स्कन्ध एष ते।"

उसने निवेदन किया :—

"तथा न बाधते स्कन्धो यथा बाधति बाधते।"

(सरस्वतीकंठाभरण, प्र० प०; ६।१)

तात्पर्य यह कि ब्राह्मण 'बाधति' के अशिष्ट प्रयोग से व्यथित हो गया और भोजराज को ऐसा सटीक उत्तर दिया कि वे संस्कृत के परम आश्रय बन गए।

---

verse. Flattery or not, it was obviously not absurd to ascribe to a Kṣatrap of foreign extraction skill in Sanskrit poetry." (History of S. Literature Oxford. 1938 P. 49)

प्रकृत प्रवादों के आधार पर हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि शकादि जातियों के भारत में बस जाने तथा शुद्ध भारतीय हो जाने का परिणाम यह हुआ कि संस्कृत ने नवजीवन धारण कर लिया और पैशाची देश में दूर दूर तक फैल गई। वह देश-भाषा, जातिभाषा और किसी किसी जनपद की राजभाषा भी बन गई। कुंतल और भोज प्रभृति जनपदों में उसका प्रसार शकादिकों के साथ हुआ। उन्हीं के कारण वह पांड्य में भी पहुँच गई।

पैशाची के परीक्षण में सबसे विलक्षण बात यह दिखाई देती है कि वैयाकरणों तथा काव्याचार्यों ने उसकी बराबर चिंता की है, किंतु नाटकों में उसे स्थान नहीं मिला है। नाट्यशास्त्र में भाषाओं का उल्लेख इस प्रकार है :—

"मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता॥"

(अ० १३ प० ४६)

'भाषा' के अतिरिक्त 'विभाषा' की भी नाट्यशास्त्र में चर्चा है, पर उसमें कहीं पैशाची का विधान नहीं है। साहित्यदर्पण में (६।१६४) पैशाची का विधान कर दिया गया है पर उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं दिखाई देता। उसमें पैशाची की व्याख्या मात्र है। 'पैशाची स्यात्पिशाचवाक्' से संशोध का कोई प्रश्न सुलझ नहीं सकता। निदान कहना पड़ता है कि पैशाची के विवेचन में नाटकों से कोई सहायता नहीं मिल सकती। हाँ, नाट्यशास्त्र से कुछ पता अवश्य चल सकता है।

नाट्यशास्त्र में 'वाह्लीका' का विधान उदीच्यों के लिये किया गया है और खसों के लिये 'स्वदेशजा' का। भरत मुनि का स्पष्ट निर्देश है :—

"वाह्लीकभाषोदीच्यानां खसानां च स्वदेशजा।"

(नाट्यशास्त्र, ५३)

'स्वदेशजा' की प्रेरणा तथा उदीच्यों के इतिहास से अवगत होता है कि 'वाह्लीका' वस्तुत: उदीच्यों की देशभाषा न थी, बल्कि उन पर ऊपर से लाद दी गई थी। शालातुरीय पाणिनि की 'भाषा' का स्थान वाह्लीका को क्यों मिला? कुछ इसका भी विचार होना चाहिए। पाणिनि की अष्टाध्यायी 'भाषा' की शिष्टता को सुरक्षित रखने के लिये बनी थी, कुछ भाषा को मार[1] डालने के लिये नहीं। पाणिनि के कुछ पहले ही या उन्हीं के समय में उदीच्यों पर पारसीकों का विदेशी शासन जम गया था। उनके प्रभुत्व में 'भाषा' भ्रष्ट हो रही थी। पाणिनि की प्रतिभा ने सूत्रों के आधार पर उसे उबार लिया और 'भाषा' को सदा के लिये सचमुच 'संस्कृत' कर दिया।

१—संस्कृत के मीमांसकों में अब 'डेड लैंग्युएज' कहने का फैशन उठ गया। संस्कृत के अद्वितीय पंडित डाक्टर कीथ कहते हैं— "It is a characteristic feature of Sanskrit, intimately connected with its true vitality, that unlike Medieval Latin, it undergoes important changes in the course of its prolonged literary existence, which even to-day is far from ended." [H S. L. Oxford, P. 17]

'शिष्ट भाषा' तो व्यवस्थित हो गई पर चलित भाषा उनके अनुशासन से निकल भागी। वह शासकों के प्रभाव में आ गई। विदेशियों ने संस्कृतभूमि उदीच्य को अपनी गढ़ी बना ली और बराबर उसी में जमते रहे। उनका जमाव इतना सघन हो गया कि भरत मुनि को अपने नाट्यशास्त्र में उनकी भाषा का विधान करना पड़ा। उदीच्यों की भाषा बाह्लीका बन गई।

बाह्लीका बाह्लीकों की देशभाषा थी। उदीच्यों की देशभाषा वह हो नहीं सकती थी। उदीच्यों और बाह्लीकों के घुल मिल जाने से उनकी भाषा भी शुद्ध न रहकर संकर हो गई। आगे चलकर जब शकादिकों के शासन ने उदीच्यों से आगे बढ़कर प्रतीच्यों और मध्यों को भी दबा लिया और उनके बीच उन्हें पिशाच के रूप में ख्यात कर दिया तब उनकी मिली-जुली संकर भाषा का नाम पैशाची चल निकला। पैशाची उदीच्यों की देशभाषा ठहरी। अन्यत्र उसे राजभाषा की प्रतिष्ठा मिली। देश में दूर दूर तक उसकी तूती बोलने लगी। उसमें भी काव्य-रचना होने लगी।

शकादिकों की आँखें खुली हुई थीं। उन पर किसी आसमानी चश्मे का परदा न था। किसी भी साधु संस्कृति को अपना लेना उनका धर्म था। निदान उक्त जातियों ने संस्कृत तथा भारतीय संस्कृति को ग्रहण कर अपने हिंदुत्व का परिचय दिया और शासक के रूप में भारत के भाग्यविधाता बने रहे। उनके ब्रह्मण्य बन जाने तथा संस्कृत या स्थानीय प्राकृतों को अपना लेने से पैशाची का प्रभुत्व जाता रहा। वह कहीं की

राजभाषा न होकर केवल उदीच्यों की देशभाषा रह गई। नाटकों में उसे स्थान तक न मिला। मिलता भी कैसे! राजवर्ग की भाषा संस्कृत नियत थी और उदीच्यों को रण-क्षेत्र के रंगमंच पर अपना सच्चा अभिनय दिखाना था। दिखावे के रूपक से उन्हें कब शांति मिल सकती थी। उनके भाग्य में तो दूसरा ही दृश्य बदा था।

एक 'बृहत्कथा' ने पैशाची को इतना महत्त्व दे दिया कि काव्य-भाषा अथवा वाङ्मय में उसकी चर्चा नित्य होती रही। भाषाचतुष्टय एवं षड्भाषाओं में उसे भी स्थान मिला। लक्ष्मीधर ने अपनी 'षड्भाषा-चंद्रिका' में उसे एक से दो कर दिया। पैशाची के साथ चूलिका पैशाची को भी अलग गिन लिया। परंतु कतिपय को छोड़ अन्य आचार्यों ने उनका साथ न दिया। उन्होंने पैशाची तथा चूलिकापैशाची को एक ही कहा और संस्कृत को षड्भाषा के भीतर ही गिना। लक्ष्मीधर ने वस्तुतः तद्भवा 'षड्विधा प्राकृती' का विचार किया है, न कि 'षड्भाषा' का। उनका स्पष्ट कथन है :—

> "षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
> पैशाची चूलिकापैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात्॥"
>
> (षड्भाषाचंद्रिका १।२६)

तत्समा का विवेचन इसलिये नहीं किया कि वह संस्कृत के मार्ग पर चलती है और उसके व्याकरण भी अनेक हैं।

हाँ, तो प्रतिष्ठित षड्भाषाएँ हैं :—

"संस्कृतं प्राकृतं चैवापभ्रंशोऽथ पिशाचिकी।
मागधी शौरसेनी च षड्भाषाश्च प्रकीर्तिताः॥" (प्राकृतलक्षणम्)

जो लोग हमारी भाषा-परंपरा से अनभिज्ञ हैं अथवा संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में कालगत[1] भेद मानते हैं उनकी दृष्टि में उक्त भाषा-विभेद में अनेक दोष दिखाई दे सकते हैं। परंतु जिसने देश के भाषा-प्रवाह में भली भाँति अवगाहन कर लिया है उसे इसमें किसी प्रकार का प्रमाद गोचर नहीं होता। प्रत्युत भाषा के प्रश्न की सारी उलझन इसी से हल हो जाती है और हम किसी प्रकार के दुराग्रह के शिकार भी नहीं होते। ध्यान से देखिए, इसमें किस तथ्य का विधान किया गया है।

संस्कृत के प्रसंग में आपने अच्छी तरह देख लिया है कि वह वाल्मीकि के समय में भारत की चलित तथा शिष्ट राष्ट्र-भाषा थी। उसके द्विजी रूप ने किस प्रकार वैयाकरणों की कृपा से काव्यों की संस्कृत का रूप धारण कर लिया, इसके कहने की

१—अपभ्रंश का समय प्रायः साहित्य की प्राकृतों के बाद माना जाता है जो वाङ्मय के विचार से ठीक है। पर इसी के आधार पर यह प्रतिज्ञा प्रतिष्ठित नहीं की जा सकती कि प्रत्येक देश-भाषा के विकास में प्राकृत के उपरांत अपभ्रंश का समय समान रूप से आया है। हमारी धारणा तो यह है कि अपभ्रंश भी वास्तव में एक प्राकृत विशेष का ही नाम है जिसका प्रसार प्रतीच्यों, कुछ उदीच्यों और मध्यदेशीयों में था। अथवा ग्रियर्सन प्रभृति पंडितों की अंतरंग भाषाओं में ही अपभ्रंश का विकास हुआ, कुछ बहिरंगों में नहीं।

जरूरत नहीं। सभी लोग इसे जरूरत से कहीं ज्यादा जानते हैं। हाँ, आवश्यकता इस बात के प्रकाशन की अवश्य है कि संस्कृत कभी मरी नहीं बल्कि[1] कामधेनु की भाँति सदा हमारी कामनाओं या अभीष्ट को पूरा करती रही और ब्राह्मणों के उदय से फिर समस्त भारत की राष्ट्रभाषा बन गई। बौद्धों तथा जैनों ने भी उसे अपनाया और अपने प्रयत्न से उसके भांडार को और भी भर दिया। संस्कृत एकमात्र व्यापक राष्ट्रभाषा बन गई। कथा-पुराण के साथ वह अपने सरल रूप में जनता में चलती रही। निदान षड्भाषाओं में उसकी भी गणना हुई।

संस्कृत चलती अवश्य थी पर वह किसी प्रांत की व्यवहृत बोल-चाल की देश-भाषा नहीं रह गई थी। शिष्टों के भाव-विनिमय उसी में होते थे पर जन-सामान्य आपस में किसी स्थानीय देश-भाषा का व्यवहार करते थे। अतएव भाषाओं के

१—"Moreover, the fact that Sanskrit was thus regularly used in conversation by the upper classes, court circles, eventually following the example of the Brahmins in this regard, helps to explain the constant influence exercised by the higher form of speech on the vernaculars which reveals itself 'inter alia' in the constant influx of Tatsamas." A. B. Keith, History of S. Literature. Preface P. XXVII.

देश-विवेचन में उसका प्रश्न नहीं उठ सकता। यदि उठ सकता है तो उसके तद्भव मानुषी रूप का, जो अवश्य ही प्राकृत था।

संस्कृत के बाद प्राकृत की बाधा सामने आती है। अपभ्रंश न सही, शौरसेनी मागधी और पैशाची तो प्राकृत हैं। फिर इस प्राकृत का अर्थ क्या? निवेदन है कि प्राकृत का सांकेतिक अर्थ है महाराष्ट्री। संस्कृत वैयाकरण महाराष्ट्री को ही प्राकृत के नाम से याद करते हैं। अस्तु, प्रकट है कि यहाँ प्राकृत का अर्थ है महाराष्ट्री।

संस्कृत को अलग कर देने से हमारे सामने महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी, अपभ्रंश एवं पैशाची का प्रश्न रह जाता है। अतएव अब इनकी भी खोज करनी चाहिए। इनमें महाराष्ट्री, मागधी और शौरसेनी प्रत्यक्षतः महाराष्ट्र, मगध और शूरसेन से संबंध रखती हैं। उन्हीं देशों के नाम पर उनका नाम चला है। पर अपभ्रंश तथा पैशाची के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। उनमें किसी देश का कोई निर्देश नहीं।

पैशाची के संबंध में हमने व्यक्त कर दिया है कि वह उदीच्यों की भाषा है। शकादिकों के उदीच्यों में मिल जाने से जो भाषा निकल आई उसी का नाम पैशाची है। इसी पैशाची का कुछ संकेत भरत मुनि ने वाल्हीका के रूप में किया है और फलतः उसका विधान भी उदीच्यों के लिये कर दिया है। उदीच्या के अतिरिक्त भारत के जिन अन्य जनपदों या प्रांतों में पैशाची का प्रचार दिखाई देता है उसका प्रधान कारण है शकादिकों का प्रमुत्व और प्रभाव न कि उसका जन्मक्षेत्र। अस्तु,

पैशाची पिशाच देश अथवा सामान्यतः उदीच्यों की भाषा निश्चित हुई।

संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी और पैशाची का लेखा लग गया। अब केवल अपभ्रंश का पता लगाना शेष है। आचार्य दंडी का कथन है:—

"आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।
शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥"

(काव्यादर्श १।३६)

'शास्त्र' से आचार्य का तात्पर्य व्याकरण है। वैयाकरण पतंजलि मुनि (ईसा से डेढ़ दो सौ वर्ष पूर्व) ने 'अपशब्द' मात्र को अपभ्रंश कहा है। देखिए:—

"भूयांसो ह्यपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतालिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।"

अस्तु, 'शास्त्र' के 'अपभ्रंशाः' से हमारा कोई प्रयोजन नहीं। हमें तो 'काव्य' की अपभ्रंश भाषा का देश देखना है। भाग्यवश आचार्य दंडी ने इसको भी स्पष्ट कह दिया है कि काव्य में आभीरादि[1] की वाणी को अपभ्रंश कहते हैं। 'काव्य' का

१—महाभारत के देखने से पता चलता है कि उस समय दो प्रकार के आभीर थे। एक की गणना शूद्रों में होती थी और दूसरे की आततायियों या भ्रष्टों में। कृष्ण की यादवियों को लूटनेवाले आभीर ही थे। उनके पाप से 'सरस्वती' नष्ट हो गई थी। संभव

संकेत कुछ अस्थिर सा है। सामान्यतः उसके भीतर दृश्य तथा श्रव्य दोनों ही आ जाते हैं, पर विचार करने से विदित होता है कि यहाँ पर काव्य का अर्थ केवल दृश्य काव्य ही है। कारण यह है कि 'आभीरादिगिरः' का विधान उसी में खप सकता है। उसी में भिन्न भिन्न विभाषाओं की भिन्न भिन्न जातियों में व्यवस्था की गई है। श्रव्य काव्य में कहीं इस तरह का संकेत नहीं मिलता। यही कारण है कि हम आचार्य दंडी की 'आभीरादि-गिरः' को नाट्यशास्त्र की 'आभीरोक्ति' की प्रतिध्वनि समझते हैं और अपभ्रंश के साधु समीक्षण में इसे संदिग्ध पाते हैं।

'आभीरादिगिरः' के अतिरिक्त यह भी याद रहे कि आचार्य दंडी ने अपभ्रंश को वाङ्मय का अंग भी माना है। उनका स्पष्ट निर्देश है :—

"तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥" (काव्यादर्श १।३२)

अतः अपभ्रंश के अन्वेषण में 'आभीरादिगिरः' के साथ इस आर्यों की अपभ्रंश को भी प्रमाण मानना चाहिए। सच पूछिए तो इसी आर्यापभ्रंश के कारण अपभ्रंश की गणना षड्भाषाओं में की गई है, कुछ आभीरादि के नाते नहीं।

है इन्हीं आभीरों के कारण तत्कालीन भ्रष्ट भाषा का नाम आभीरी अथवा 'आभीरादिगिरः' पड़ गया हो। कुछ भी हो, अपभ्रंश के विवेचन में आभीरों की अवहेलना हो नहीं सकती। इनके इतिहास पर विशेष विचार करने की आवश्यकता है।

अपभ्रंश की एक बड़ी विशेषता है उसका 'उकारबहुला' होना। उकारबहुला भाषा का विधान नाट्यशास्त्र (ईसा के लगभग) में निम्न जनपदों के 'समुपाश्रितों' के लिये किया गया है—

"हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये जनाः समुपाश्रिताः ।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥"
(नाट्यशास्त्र १७।३२)

'समुपाश्रिताः' के आधार पर कहा जा सकता है कि इस 'उकारबहुला' भाषा का उदय उक्त जनपदों के आगत-वासियों में हुआ।

भरत मुनि के 'समुपाश्रिताः' एवं दंडी के 'आभीरादिगिरः' के परिशीलन से पता चलता है कि वास्तव में अपभ्रंश के निर्माण में विदेशियों का हाथ था। नाट्यशास्त्र में कहीं अपभ्रंश शब्द का प्रयोग नहीं मिलता पर उसके 'प्राकृत-पाठ' के विधान में 'विभ्रष्ट' का उल्लेख है—

"त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः ।
समानशब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च ॥" (नाट्यशास्त्र १७।३)

प्रायः कह दिया जाता है कि 'समान शब्द', 'विभ्रष्ट' और 'देशीगत' में क्रमशः 'तत्सम', 'तद्भव' तथा 'देश्य' का विधान है। पर हम इस निष्कर्ष से सहमत होने में असमर्थ हैं। हमारी समझ में सीधी बात यह है कि एक ओर आर्य अनार्यों को हटाते, उन्हें अपनाते, उनके देश में बसते तथा उनकी भूमि को अपनी बनाते जाते थे। उनके इस प्रयास से उनकी भाषा में जो देशगत विकार उत्पन्न हो जाते थे उन्हीं को लक्ष्य करके

उनके पाठ्य को देशीगत कहा गया है। दूसरी ओर आगंतुकों के नए जत्थे आते, जीतते और यहीं के हो रहते थे। यहाँ के भाव तथा भाषा से प्रभावित हो वे चाव के साथ आगे बढ़ते और भाषा को अपनाकर उसे भ्रष्ट कर देते थे। संभवतः इसी भ्रष्टता के कारण उनके पाठ्य को 'विभ्रष्ट' की उपाधि मिली है। अतएव विभ्रष्ट और देशीगत को हम 'तद्भव' मानते हैं और उनके विभेद का कारण कुछ और ही समझते हैं। सारांश यह कि देशीगत पाठ्य स्वतः प्रकृत जनों का प्राकृत पाठ्य है और विभ्रष्ट आगंतुकों का प्राकृत पाठ्य। विभ्रष्ट में विदेशीपन अवश्य है। इसी विदेशीपन के कारण अपभ्रंश अन्य प्राकृतों से भिन्न है। भरत के 'समुपाश्रिताः' और दंडी के 'आभीरादि-गिरः' प्रभृति पद इसी की साक्षी दे रहे हैं।

भरत मुनि ने 'उकारबहुला' अर्थात गर्भ की अपभ्रंश का विधान कर तो दिया पर नाटककारों ने उसे महत्त्व न दिया। शूद्रक के मृच्छकटिक और कालिदास के विक्रमोर्वशीय में अप-भ्रंश के कुछ[1] प्रयोग हुए तो सही पर उनमें भी उसको उचित स्थान न मिला। अस्तु, नाटकों के आधार पर यदि कोई अप-

---

१—अपभ्रंश के विषय में याकोबी, गुणे प्रभृति विद्वानों ने अच्छी खोज की है। इसके लिये 'भविसयत्तकहा' की भूमिका दर्श-नीय है। श्री सुनीतिकुमार चटर्जी की 'बंगाली भाषा की उत्पत्ति तथा विकास' नामक पुस्तक की भूमिका भी इसके लिये उपयोगी है। 'उकारबहुला' के लिये पृ० ८८ देखिए।

भ्रंश तथा पैशाची की सत्ता को अस्वीकार करें तो इसके लिये हमारे पास प्रमाण क्या है ? हम किस प्रकार उनकी सत्ता को सिद्ध कर सकते हैं ?

जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि भरत मुनि ने उकारबहुला भाषा का विधान 'हिमवत्सिंधुसौवीर' के समुपाश्रित जनों में किया है और शूद्रक ने मृच्छकटिक में एक ढक्क भाषा को स्थान दिया है। ढक्क के विषय में विवाद करना व्यर्थ है। वस्तुतः वह 'टक्क' का रूपांतर है। टक्क जनपद में कभी अपभ्रंश का व्यवहार था। इसका पता एक प्राचीन पद्य से स्वतः चल जाता है। भाषा-क्षेत्र के विचार से यह पद्य बड़े महत्त्व का है—

"गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ।
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः ॥"

प्रस्तुत पद्य के प्रणेता का पता नहीं। राजशेखर ने कृपा कर इसे काव्यमीमांसा (९१० ई०) में उद्धृत कर दिया है। इससे स्पष्ट अवगत होता है कि यह कम से कम राजशेखर से पुराना है। इसमें इस बात का प्रत्यक्ष निर्देश है कि 'सकलमरुभुवष्टक्कभादानक' के प्रांत में अपभ्रंश का प्रयोग चालू था। उन्हीं जनपदों की प्राकृत में अपभ्रंश का प्रवेश था।

राजशेखर ने कवि-समाज की पंक्ति में अपभ्रंश कवियों को पश्चिम में स्थान दिया है और परिचारक वर्ग के लिये अपभ्रंश का ज्ञान आवश्यक बताया है। उनका कहना है—

"पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः"

(का० मी० पृ० ५४, ५५)

"अपभ्रंशभाषाप्रवणः परिचारकवर्गः" ।

(वही पृ० ५०)

अतएव हम कह सकते हैं कि राजशेखर के समय में अपभ्रंश पश्चिम की प्रचलित भाषा थी और नित्य प्रति के व्यवहार में आती थी। राजदरबार के परिचारक उसी का प्रयोग करते थे।

प्राकृत-वैयाकरणों अथवा काव्य के आचार्यों ने भाषाओं के अलग अलग क्षेत्रों का विचार नहीं किया है। किंतु प्राकृतों का जो वर्गीकरण किया है वह देश-दृष्टि पर अवलंबित है। मागधी और शौरसेनी के प्रांतों में किसी को आपत्ति नहीं। प्राकृत महाराष्ट्र की भाषा महाराष्ट्री का परंपरागत नाम है। अतः उसके संबंध में कोई विवाद नहीं। सुगमता के लिये शौरसेनी को मध्या मान लीजिए। मागधी प्राच्या[1] और महाराष्ट्री दाक्षिणात्या निकल आई। अब प्रतीच्या का पता लगाइए। प्रतीच्य में अपभ्रंश का विधान किया गया है। उसके प्रांतों में अपभ्रंश का व्यवहार हुआ है। निदान उसकी प्राकृत का नाम प्रतीच्या या अपभ्रंश हुआ। रही पैशाची की बात। अवश्य ही वह उदीच्या सिद्ध हुई। इस प्रकार पंच

१—यह प्राच्या नाट्यशास्त्र की 'प्राच्या' से सर्वथा भिन्न है। भरतमुनि की 'प्राच्या' 'खड़ीबोली' की मूलप्रकृति है।

प्राकृतों का लेखा लग गया और उनका देशगत उचित विभाजन भी हो गया।

प्राकृतों में प्राच्या (मागधी) को अब्रह्मण्यों, दाक्षिणात्या को सातवाहनों एवं उदीच्या को शकादिकों ने बढ़ाया और कुछ काल के लिये राजभाषा के रूप में उनकी प्रतिष्ठा भी कर दी। पर उनके प्रयत्न से भी कभी उनको भारत की राष्ट्रभाषा का पद नसीब न हुआ। कारण प्रत्यक्ष था। उनमें से प्रत्येक सीमांत भाषा थीं, भारत के हृदय मध्यदेश से दूर की भाषा थीं और अनार्यों के संसर्ग में आ चुकी थीं। पैशाची आततायियों के पंजे में थी तो मागधी भदेसों के मुँह में। महाराष्ट्री द्रविड़ों के संपर्क में रहने तथा आर्यावर्त से अलग एक कोने में होने के कारण सर्वसुलभ नहीं हो सकती थी। निदान उनमें से प्रत्येक का प्रताप उनके शासकों के साथ अस्त हो गया। अपने गुणों के कारण केवल महाराष्ट्री काव्यभाषा बनी रही और नाटकों में शौरसेनी के साथ चलती रही।

शौरसेनी ब्रह्मर्षिदेश की भाषा थी। ब्राह्मी की वह औरस नहीं तो सगी संतान थी। संस्कृत की सगी होने के नाते उसका भी व्यापक प्रचार था। वैयाकरणों ने उसे ही अन्य प्राकृतों की प्रकृति कहा है। सचमुच वही भारत की चलित राष्ट्रभाषा थी। उसी के सहारे सामान्य जनता भाव-विनिमय किया करती थी। जो लोग उसे बोल नहीं पाते थे वे भी उसे समझ अवश्य लेते थे। तभी तो भरत मुनि ने उसके संबंध में लिखा है—

"सर्वास्वेव हि शुद्धासु जातिषु द्विजसत्तमाः।
शौरसेनीं समाश्रित्य भाषां काव्येषु योजयेत् ॥"

(ना० शा० १७।४७)

अस्तु, शकादिक पिशाचों ने शूरसेन को अपना प्रांत बना लिया। उनके संपर्क में आ जाने से शौरसेनी की शुद्धता जाती रही। उसमें भी कुछ पैशाची का मेल हो गया। आभीर, गुर्जर प्रभृति[1] जातियों के बस जाने से शौरसेनी में जो विकार उत्पन्न हुए उन्हें लक्ष्य करके इस भ्रष्ट भाषा का नाम अपभ्रष्ट पड़ा। यही अपभ्रष्ट भाषा आगे चलकर अवहट्ट के रूप में प्रचलित हुई।

हूणों के परास्त हो जाने के उपरांत भारत कुछ काल के लिये आततायियों के आक्रमणों से सुरक्षित रहा। सिंध में मुसलिम झंडे के नीचे जो अरब-शासन स्थापित हो गया था उसका धीरे धीरे ह्रास ही हो रहा था। गुप्तों के शासन में ब्रह्मण्य या हिंदुत्व को जो प्रोत्साहन मिला वह प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था।

१—कुवलयमालाकथा में, जिसकी रचना संवत् ८३५ वि० में हुई थी, कहा गया है :—

"कपिलान् पिङ्गलनयनान् भोजनकथामात्रदत्तव्यापारान् 'कित्तो किम्मो जिह' जल्पकानथांतर्वेचांश्च" (छाया, अपभ्रंशकाव्यत्रयी पृ० ९२ पर अवतरित)। शौरसेनी के प्रांत अंतर्वेद में उक्त लोग कहाँ से आ बसे थे और कौन थे, इसका शीघ्र पता लगाना चाहिए। संभव है, उससे भाषा के विवेचन में अच्छी सहायता मिले।

विदेशी जातियाँ शुद्ध होकर कट्टर स्वदेशी और ब्रह्मण्य बन रही थीं। संक्षेप में राजपूतों का उदय तथा अपभ्रंश का उत्कर्ष हो रहा था। वह राजभाषा बन रही थी।

अपभ्रंश के प्रसंग में नोट करने की बात यह है कि उसका उदय उदीच्यों की 'उकारबहुला' भाषा में हुआ तो सही पर उसका विकास उदीच्या में न हो सका। कारण प्रत्यक्ष है। उदीच्या में पैशाची का प्रसार हो गया। पैशाची को चाहें तो ब्राह्मी और वाह्लीका का संकर[1] रूप कह सकते हैं। राजाश्रय मिल जाने के कारण पैशाचों का प्रसार प्रतीच्या, दाक्षिणात्या और कुछ कुछ मध्या में भी हो गया, पर कभी उसे जनता ने राष्ट्रभाषा के रूप में ग्रहण नहीं किया। करती भी कैसे ? उससे उसका सीधा संबंध ही क्या था ? मागधी और महाराष्ट्री की भी कुछ वही दशा रही जो पैशाची की थी। अंतर केवल यह था कि महाराष्ट्री ब्रह्मण्य प्राकृत थी और नाटकों में प्रतिष्ठित भी हो चुकी थी। मागधी की भाँति उसका संबंध भद्देसों से न था। फिर भी वह एक कोने

१—उदीच्यों की जन्मभाषा ब्राह्मी या मानुषी वेदवाणी थी। वाह्लीकों के बस जाने से उसमें वाह्लीका का मेल हो गया। ईसा के लगभग ५ सौ वर्ष पहले उदीच्य में दारा का शासन स्थापित हो गया था। इस प्रकार उदीच्य की परंपरागत भाषा यानी मानुषी संस्कृत में बाहरी विकार काम करने लग गए थे। इस योग अथवा मेल-जोल से जो भाषा निकल आई उसी का व्यवहार शकादिकों में चालू हुआ और वह पैशाची के नाम से प्रयोग में आ गई।

की भाषा थी। उसके प्रसार के लिये कठोर विधान अपेक्षित था, जो भारतीयों से हो नहीं सकता था।

अपभ्रंश क्या प्रकृति, क्या प्रवृत्ति, क्या परिस्थिति और क्या प्रतिष्ठा, सभी दृष्टियों से संपन्न और राष्ट्रभाषा के उपयुक्त थी। जिन पिशाचों के संसर्ग में आ जाने से उसमें भ्रष्टता आ गई थी उनकी गणना अब भारत के शुद्ध क्षत्रियों में हो गई थी और राजपूत नामक एक पक्की क्षत्रिय-जाति निकल आई थी। आभीर और गुर्जरों का संबंध ब्रजविहारी गोपाल कृष्ण से स्थापित हो गया था। उनके साथ की उनकी रास-लीला पतित-पावन हो चुकी थी। अहीर की छोकरियाँ तनिक सी छाँछ पर अब कृष्ण को नाच नचाती थीं और 'गूजरी' ब्रजवल्लभ को मोह लेती थीं। मतलब यह कि अपभ्रंशवाले आभीर भी पूत हो गए थे। फिर उनकी वाणी किस मुँह से भ्रष्ट कही जाती?

अपभ्रंश पैशाची और ब्राह्मी के मेल से बनी थी। वह संकर नहीं, वास्तव में शबल थी। एक ओर भारत की परंपरागत राष्ट्रभाषा से उसका संबंध था तो दूसरी ओर वर्त्तमान शासक-वर्ग से उसका लगाव। स्थिति भी बहुत कुछ मध्य में थी। उत्तर में पैशाची, दक्षिण में महाराष्ट्री और पूर्व में शौरसेनी का प्रांत था जो उसकी जननी नहीं तो सगी अवश्य थी।

अस्तु, अपभ्रंश के सहसा राष्ट्रभाषा बन जाने के प्रधान कारण थे:—(१) उसका राष्ट्रभाषा की परंपरागत भाषा के वंश में होना; तथा (२) उस पैशाची भाषा से लगाव रखना जो कभी अधिकांश प्रांतों की राजभाषा थी और शकादिकों के साथ

देश के अनेक भागों में फैल गई थी; एवं (३) सहसा राजाश्रय को प्राप्त कर राजपूतों के साथ देश-देशांतर में प्रविष्ट हो जाना।

अपभ्रंश भारत की लपित राष्ट्रभाषा थी। व्यवहार में होने के कारण उसके अनेक देशभेद हो गए थे। इसी भेद के कारण रुद्रट (८५० ई० के लगभग) को लिखना पड़ा—

"प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शूरसेनी च।

षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥" (काव्यालंकार, २।१२)

रुद्रट के 'भूरिभेदः' और 'देशविशेषात्' के संबंध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। नमिसाधु ने इसकी टीका में लिखा है—

"तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः। स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यत्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देशविशेषात्कारणात्। तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्।"

नमिसाधु ने कहीं पर इस बात का उल्लेख नहीं किया कि 'उपनागराभीरग्राम्य' प्रभृति भेद किस व्यक्ति के किए हुए हैं। हाँ, इतना अवश्य कहा है कि उसी के खंडन के लिये रुद्रट ने 'भूरिभेद' का प्रयोग किया है। 'भूरिभेद' के कारण को व्यक्त करने के लिये 'देशविशेषात्' की आवश्यकता इसी लिये पड़ी कि उक्त 'त्रिधोक्त' भेद 'देशविशेष' पर अवलंबित न थे। उनके विभाजन का कारण देशगत रूप नहीं बल्कि कुछ और था। 'उपनागर' और ग्राम्य' में तो 'नगर' और 'ग्राम' का आधार है पर 'आभीर' में प्रत्यक्ष ही जाति का संकेत है। आभीर का प्रयोग शायद 'आभीरादिगिरः' के इशारे पर कर दिया गया है। आभीरी भाषा के प्रसंग में नमिसाधु ने उसी पद्य की टीका में लिखा है—

"आभीरी भाषा अपभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते।"

नमिसाधु के इस कथन से प्रकट होता है कि अपभ्रंश मगध की देशभाषा न थी। वह कहीं कहीं मागधी के क्षेत्र में भी दिखाई दे जाती थी। अपभ्रंश के इस मागधी रूप के लिये नमिसाधु ने वही 'तस्य लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्' का विधान किया है और प्रकृत अपभ्रंश का कुछ विचार कर प्रसंग को समाप्त कर दिया है।

अपभ्रंश के मागधी रूप के निदर्शन का यह समय नहीं। इसके लिये वज्रयानियों के गानों—विशेषतः सरह और कृष्णाचार्य—का अध्ययन करना चाहिए। यहाँ पर हम इस प्रसंग के स्पष्टीकरण के लिये विद्यापति का एक पद्य उद्धृत करते हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा देशभाषा के संबंध में उनका मत है—

"सक्कय वाणी वहुअ न भावइ, पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तँ तैसिन जंपओ अवहट्ठा॥"

(कीर्त्तिलता)

'तँ तैसिन' के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि देशी भाषा की भाँति अपभ्रंश भी कभी व्यापक लोकप्रिय थी। इसी लोकप्रियता के कारण विद्यापति ने उसी में कविता का श्रीगणेश किया। आगे चलकर विद्यापति ने संस्कृत तथा मैथिली को महत्त्व दिया और अवहट्ठ की उपेक्षा की। निश्चय ही उनके अपभ्रष्ट-प्रेम का प्रधान कारण अपभ्रंश की प्रतिष्ठा अथवा उसका व्यापक व्यवहार था। 'पाल' तथा 'सेन' राजाओं के शासन में प्राच्या के क्षेत्र में भी अपभ्रंश का व्यापक

पंजाब में 'गुजरात' तथा 'गुजरानवाला' आज भी गुर्जरों के नाम को उजागर कर रहे हैं। ब्रह्मर्षि देश में आज भी गूजरों की बड़ी बस्ती है। राजपूतों में अनेक गुर्जरकुल-प्रभूत हैं। सारांश यह कि गुर्जराभीरों के प्रभाव से अपभ्रंश पुष्ट एवं प्रबल हो गई और संस्कृत के साथ भारत की चलित राष्ट्रभाषा बन गई।

'नागर' पंडितों की अपभ्रंश थी। उसका प्रयोग काव्य-रचना में होता था। उसके अतिरिक्त एक और भी अपभ्रंश थी जिसका नाम 'ग्राम्य' रख दिया गया था। नमिसाधु ने इस ग्राम्य का उल्लेख 'उपनागराभीर' के साथ किया है और जैनाचार्य हेमचंद्र ने उसे काव्य-भाषा के भीतर कर लिया है। उनका कहना है—

"पद्यं प्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वाससन्ध्यवस्कन्धकबन्धम् ।"

(काव्यानुशासन, काव्यमाला संस्करण पृ० ३३०)।

आचार्य ने कृपा कर उस काव्य का निर्देश भी कर दिया है जो ग्राम्यभाषा में रचा गया था—

"ग्राम्यापभ्रंशभाषानिबद्धावस्कन्धकबन्धं भीमकाव्यादि"।

(वही पृ० ३३७)।

दुर्भाग्यवश भीमकाव्यादि का कोई पन्ना हमारे सामने नहीं है। फिर भला हम किस मुँह से कह सकते हैं कि यही ग्राम्या-

---

found even in countries of which the local language was Dravidian. (L. S. Introductory, P. 124.)

पभ्रंश आधुनिक गुजराती की जननी है। कुछ भी हो, इतना कहने से हमें कोई रोक भी नहीं सकता कि वास्तव में नागर राष्ट्र-अपभ्रंश का नाम है। उस अपभ्रंश का नाम है जो इसलाम के पहले भारत की चलित काव्यभाषा थी और नागरों के प्रयास से परितः पुष्ट हो समस्त देश की व्यवहार की भाषा बन गई थी। अजब नहीं कि तुरुकों ने आरंभ में इसी को 'रेखता' कहा हो और 'हिंदी' के नाम पर इसी में रचना आरंभ की हो। रेखता का एक अर्थ अपभ्रंश भी है और दक्खिनी कवियों ने 'गूजरी' का उल्लेख भी किया है। 'गूजरी' अवश्य ही 'गुर्जरी' से बनी है, न कि गुजराती से जैसा कि कुछ लोग खयाल करते हैं।

हाँ, तो निवेदन यह कर देना था कि इसलाम क्या मसीह के बहुत पहले वाल्मीकि के समय में संस्कृत भारत की राष्ट्र-भाषा थी। उस समय सभी भाषाओं की भाँति उसके भी दो रूप थे। वाल्मीकि ने एक को 'द्विजाति' और दूसरे को 'मानुषी' कहा है। भाषा के द्विजाति रूप को शिष्टों ने अपनाया और उसको और भी शिष्ट तथा संस्कृत बना लिया। वह शिष्टों की भाषा तथा समस्त देश की शिष्ट राष्ट्रभाषा बराबर बनी रही। अब्रह्मण्यों ने पहले उसकी उपेक्षा की, किंतु फिर सोच-समझकर उसे अपनी शिष्ट और व्यापक राष्ट्र-भाषा मान लिया। गुप्तों तथा राजपूतों के प्रोत्साहन से उसमें फिर जान आ गई और भारत में इसलाम के फैलने के पहले गाँव-गाँव और घर-घर में उसकी प्रतिष्ठा हो गई, कथा-पुराण के

रूप में वह सर्वत्र फैल गई और प्राकृतों से कहीं अधिक सुबोध[1] जान पड़ने लगी। 'मानुषी' ने क्रमशः पाली, शौरसेनी और नागर के रूप में भारत की चलित राष्ट्रभाषा का रूप धारण किया और अन्य प्राकृतों अथवा देशभाषाओं को स्वतंत्र बढ़ने दिया। इस प्रकार इसलाम के पहले भारत में एक ओर तो राष्ट्रभाषा के रूप में संस्कृत विराजमान थी और दूसरी ओर नागरापभ्रंश। संस्कृत का व्यवहार शिष्टों में था। संस्कार तथा कालचक्र के प्रभाव से वह असाध्य हो गई थी। फारसी के आ जाने से उसकी राज-मर्यादा भंग हो गई, पर चलित और सहज होने के कारण 'नागरी' बनी रही। समूचे हिंद की भाषा होने के नाते उसे हिंदी की उपाधि मिली। वही यवनों की भी चलित राष्ट्रभाषा हुई।

यवनों ने अपभ्रंश को इतना महत्त्व दिया कि अपभ्रंश उन्हीं की भाषा सी हो गई। वैयाकरणों ने उसकी उपेक्षा की। अब उसके व्याकरण पर विचार करना आवश्यक हो गया। लक्ष्मीधर से साफ साफ कह दिया—

१—जैन कवि सिद्धर्षि ने उपमितिभवप्रपंचकथा (६०६ ई०) को प्राकृत में नहीं लिखा बल्कि उसे संस्कृत में लिखा और उसका कारण यह बताया कि शिष्ट लोग संस्कृत के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा को पसंद नहीं करते। साथ ही इस बात को स्पष्ट भी किया कि प्राकृत-प्रेमी सज्जनों के लिये संस्कृत सुबोध पड़ेगी।

"अपभ्रंशस्तु चण्डालयवनादिषु युज्यते ।
नाटकादावपभ्रंशविन्यासस्यासहिष्णवः ॥"

(षड्भाषा चं० १।३६)

किंतु उनके समकालीन शेषकृष्ण ने अपभ्रंश की इस प्रकार अवहेलना न की। अपभ्रंश का विवेचन तो उन्होंने भी नहीं किया पर उसका कारण कुछ और ही बताया। उनका निवेदन है—

"अपभ्रंशस्तु यो भेदः षष्ठः सोऽत्र न लक्ष्यते ।
देशभाषादितुल्यत्वान्नाटकादावदर्शनात् ।
अनत्यन्तोपयोगाच्चातिप्रसंगभयादपि ॥" (प्राकृत-चंद्रिका)

अपभ्रंश को भारत के शिष्ट समुदाय ने कभी विशेष महत्त्व नहीं दिया। उसका ध्यान बराबर संस्कृत पर बना रहा। राजपूतों के उदय से संस्कृत को और भी प्रोत्साहन मिला और वह बड़े वेग से आगे बढ़ रही थी। उसके प्रकाश में अपभ्रंश का प्रकाशित रहना संभव न था। वह जनसमाज में चल सकती थी। पंडित-मंडली में उसकी प्रतिष्ठा न थी। संस्कृत उसे भी समेट कर आगे बढ़ना ही चाहती थी कि फारसी ने आ दबोचा। संस्कृत घिर गई और अपभ्रंश हिंदी के रूप में आगे बढ़ी।

यवनों के हाथ में शासन-सूत्र आया कि देशभाषाओं को स्वतंत्रता मिली। ठेठ[1] हिंदुस्तान के प्राच्य में बँगला, दक्षिण में

१—ठेठ हिंदुस्तान से तात्पर्य आर्यावर्त्त के उस बड़े भूभाग से है जहाँ के लोग आज भी 'हिंदुस्तानी' कहे जाते हैं और हिंदी को अपनी मातृभाषा समझते हैं।

मराठी और प्रतीच्य में गुजराती ने संपन्नता प्राप्त कर ली। राजभाषा फारसी से उनका कोई भी सीधा संबंध न था। उसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करना उनके लिये असंभव था। मुस्लिम प्रचारक या संत सूफी भी स्थानीय देशवाणी को अपने प्रचार या उपदेश का साधन बनाते थे। उनके प्रयत्न से राष्ट्रभाषा का अहित हो रहा था। पर उतना न हो सका जितने की आशंका की जाती थी। उनका भी प्रधान केंद्र ब्रह्मर्षि देश ही था। उनके द्वारा भी उसी ब्राह्मी का प्रचार हुआ जो सदा से, किसी न किसी रूप में, समस्त देश की राष्ट्रभाषा रही है और फलतः आज भी है। उसी को आज हम आप हिंदी अथवा हिंद की राष्ट्रभाषा कहते हैं। उसी को कल मुसलमान भी मुल्की जबान कह रहे थे। अँगरेजों के आने और फारसी के उठ जाने से देश में 'इम्तयाज' के लिये जो एक नई जबान ईजाद हुई उसी को आज भ्रम, नीति अथवा प्रमाद-वश कुछ लोग 'मुल्की' या 'मुश्तरकः ज़बान' कर रहे हैं जिसमें सत्य का लेश भी नहीं है।

अल्बेरूनी (१०३० ई०) की गवाही[1] से सिद्ध होता है कि भारत में मुसलिम शासन स्थापित होने के पहले यहाँ एक ही

१—"Further, the language is divided into a neglected vernacular one, only in use among the common people, and a classical one, only in use among the upper and educated classes, which is much cultivated

भाषा के दो रूप थे। एक का प्रचलन जन-समाज में था और दूसरे का व्यवहार शिष्ट तथा शिक्षितों में। अर्थात् एक शिष्ट या 'द्विजी' भाषा थी तो दूसरी चलित या 'मानुषी' भाषा। दोनों का व्यवहार साथ-साथ चल रहा था। तुरुकों के शासक हो जाने से एक और ही शिष्ट या राज-भाषा का आगमन हुआ जो अँगरेजी के राजभाषा बनने के पहले यहाँ की शाही जबान थी।

इस तरह हम देखते हैं कि मुसलिम शासन में दो शिष्ट भाषाओं का प्रचलन था। एक का व्यवहार शिष्ट हिंदुओं में होता था तो दूसरी का शिष्ट यवनों में। जनता एक तीसरी ही भाषा का प्रयोग करती थी—उसी भाषा का, जिसे हमने 'मानुषी' के सहज नाम से याद किया है। यवनों की शिष्ट भाषा का नाम फारसी था। वह केवल राजवर्ग की भाषा थी। नवागंतुक मुसलमान भी उसी का प्रयोग करते थे। परदेशी और पुराने मुसलमान जिस भाषा में भाषण करते थे उसका नाम रेखता (अपभ्रंश) या हिंदी (हिंद की भाषा) था। अर्थात् यही उस समय की 'मुश्तरका जबान' थी। हिंदू-मुसलिम इसी को अपनाते थे। सचमुच यही मुसलिम काल की सच्ची राष्ट्रभाषा थी।

---

and subject to the rules of grammatical inflection and etymology, and to all the niceties of grammar and rhetoric." Alberunis' India, Dr. E. C. Sachan, London, Kegan Paul 1910 P. 18.

तुरुकों के राज्य में हमारी राष्ट्रभाषा हिंदी ने जो रंग पकड़ा उसकी मीमांसा अन्यत्र होगी। यहाँ इतना ही निवेदन कर देना अलं है कि आज भी हमारे सामने भाषा का वही पुराना प्रश्न है जो कभी हमारे पूर्वजों के सामने था। अंतर केवल इतना पड़ गया है कि हममें कुछ ऐसे जीव भी बस गए हैं जो यहाँ के नहीं वहाँ के होकर यहाँ रहना चाहते हैं और हिंद को अपना घर नहीं बल्कि छावनी समझते हैं। उनके इस व्यामोह को हटाने का प्रयत्न करना जागते को जगाना और पाषंड को बढ़ाना है। अतएव उनकी उपेक्षा कर हमें स्पष्ट कह देना है कि राष्ट्र के मंगल तथा लोक के कल्याण के लिये यह परम आवश्यक ही नहीं सर्वतः अनिवार्य भी है कि हम भाषा की परंपरा पर ध्यान दें और अच्छी तरह, भली भाँति, देख लें कि हमारा राजमार्ग क्या है; किस प्रकार हम एक में अनेक का विधान और अनेक में एक का अनुष्ठान करते आ रहे हैं। यदि हमने प्रमादवश परंपरा के कारण प्रथित राजमार्ग को छोड़ स्वच्छंद पगडंडियों का सहारा लिया और व्यर्थ के प्रलोभनों में मनमाना ढर्रा कायम किया तो हमारा विनाश अवश्यंभावी है। सबके होने में हम कहीं के न रह जायँगे और एक ऐसी सूरत निकाल या खड़ी कर लेंगे जो धीरे धीरे हमीं को भक्ष लेगी। फिर राष्ट्र और राष्ट्र-भावना का उद्धार कौन करेगा?

राष्ट्र-भाषा का निर्णय

राष्ट्रपति पंडित जवाहरलाल नेहरू ने दक्षिण नायक की भाँति हिंदी की आँख[1] मूँदकर उर्दू का चुंबन किया है और यह समझ लिया है कि उनकी इस दक्षिणी चेष्टा से हिंदी-उर्दू का

१—पंडितजी ने 'भाषा का प्रश्न' नामक एक निबंध लिखा है। उसमें जहाँ कहीं हिंदी का नाम आया है वहाँ उर्दू का भी विधान अवश्य किया गया है। पंडितजी की इस क्रिया से उर्दू को फिर राष्ट्र की ओर से अनुचित मदद मिल गई है। दुनिया जानती है कि बिहार तथा मध्यप्रांत में कभी मुसलिम केंद्र या उर्दू के अड्डे न थे। सरकार की ओर से काफी छानबीन करने के बाद वहाँ से उर्दू हटाई गई थी; परंतु पंडितजी ने फिर वहाँ उसे चालू कर देने का अपनी ओर से विधान कर दिया है। पंडितजी ने इस बात की भरपूर उपेक्षा की है कि राष्ट्रभाषा वास्तव में वही हो सकती है जिसकी प्रवृत्ति राष्ट्र तथा प्रांत-भाषाओं के साथ हो। जब प्रांत-भाषाओं की 'प्रवृत्ति' हिंदी की प्रवृत्ति के मेल में है तब उन्हें उर्दू के साथ किस प्रकार बिठाया जा सकता है? हम यह नहीं कहते कि उर्दू को छूट न मिले। मिले और खूब मिले। पर इतना याद रहे कि वह हमारी राष्ट्रभाषा नहीं, वर्ग-विशेष की राज-भाषा है। फारसी तथा अँगरेजी की तरह वह भी हम पर लादी गई है और फारसी की जगह उसी जोर से चालू की गई है।

विवाद मिट जायगा। पंडितजी की यह क्रिया है तो प्रशंसनीय पर उर्दू के विधाता मौलाना (अब डाक्टर) अब्दुल हक की दृष्टि में वह वेतरह चुभ गई है। कारण प्रत्यक्ष है। उर्दू राज-भाषा या रानी है। वह उन लोगों की मुँह-लगी है जो कल भारत के भाग्य-विधाता या मुल्क के बादशाह थे। हिंदी की भाँति वह बाँदी या गुलामों की जबान नहीं; हिंद के किताबी शाहंशाहों की जबान है। हिंदी के साथ उसकी निभ नहीं सकती। वह हिंदी और हिंद की भाषाओं को मिटाकर बढ़ना चाहती है, कुछ सौत के रूप में पालना नहीं। कदाचित् यही कारण है कि उर्दू के कर्णधारों को पंडितजी की दक्षिणी नीति खली है और मौलाना हक को उन्हें झुठलाना पड़ा है। यदि उक्त मौलाना और उनकी मंडली के लोग अपने बलबूते पर पंडित जवाहरलाल को झुठाते या 'बातिल' बनाते तो कोई बात न थी। हम इसे उनकी आदत समझ लेते और 'शाने खुदा' कहकर अपने को समझा-बुझाकर किसी तरह संतुष्ट कर लेते। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि उक्त मौलाना ने सर जार्ज ग्रियर्सन जैसे भाषा-मनीषी की दुहाई दी है और उन्हीं के आधार पर पंडितजी को ललकार भी दिया है। आप फरमाते और किस तपाक से फरमाते हैं—

"पंडितजी की हुब्बवतन में शक करनेवाला काफ़िर। लेकिन इस बहस को महज़ 'इल्मी' समझकर हम इतना अर्ज़ करने की इजाज़त चाहते हैं कि 'हिंदुस्तान की तहक़ीक़ात लसानी' (Linguistic Survey of India) के जखीम मुजल्दात में

हमारी कसरत-अल-सनः के मुतल्लिक़ हक़ायक़ जमा किए गए हैं उनके बतलाने के लिये हुब्बवतन के सिवा कुछ और भी मवाद दरकार है और महज़ खयाल की बुलंद व परवाज़ी से वाक़यात नहीं बदल सकते। रही हिंदोस्तानी ज़बान, जिसके बोलने-समझनेवालों की तादाद कहीं दस, कहीं चौदह करोड़ बताई गई है, तो अगर 'हिंदी' और 'उर्दू' में इख़्तलाफ़ बल्कि सिर्फ़ इम्तयाज़ भी जायज़ रखा गया तो ज़ाहिर है कि यह दावा ख़ुद बख़ुद बातिल हो जायगा।"—उर्दू, जुलाई सन् १९३७ ई० पृ० ६७८।

मौलाना हक के 'महज़ इल्मी' और 'तहक़ीक़ात लसानी' की पुकार पर ध्यान देना हमारा धर्म है। हम इससे अधिक कुछ और चाहते भी नहीं। हमारा दावा है कि यदि उर्दू के लोग इसे इल्म और ज़बान का सवाल बना लें तो सवाल आप ही हल हो जाता है। इसके लिये विवाद की जगह ही नहीं रहती। जो हो, यहाँ तो हमें स्पष्ट दिखा देना है कि सर जार्ज ग्रियर्सन की 'तहक़ीक़ात लसानी' या भाषा सर्वे से सिद्ध क्या होता है। उनका कहना है:—

Between Bengal and the Punjab every individual who has received the very slightest education is bilingual. In his own home and in his own immediate surroundings he speaks a local idiom, but in his intercourse with strangers he employs or understands some form of that great lingua franca, Hindi or Hindostani. Moreover, over the whole of this vast

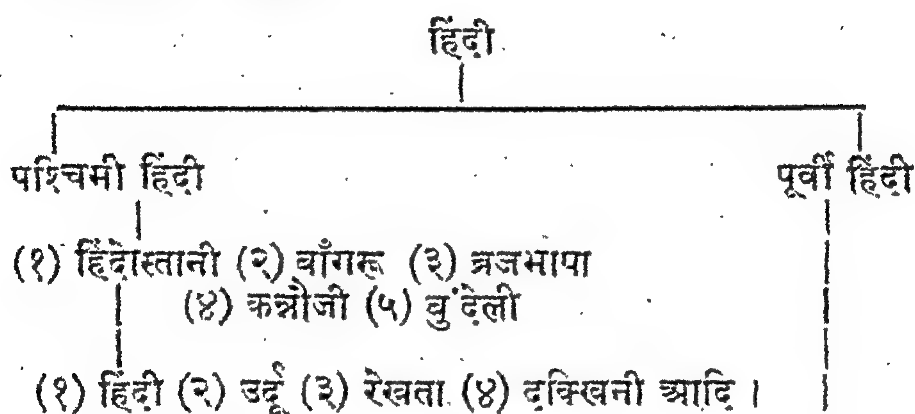
area including even Rajputana, Central India, and Gujrat the great mass of the vocabulary, including nearly all the words in common use, is, allowing for variations of pronunciation, the same. It is thus commonly said and believed, that throughout the Gangetic Valley, between Bengal and the Punjab, there is one language, and only one, Hindi, with numerous local dialects. From one point of view this is correct and cannot be denied. Hindi or Hindostani is everywhere the language of administration, and is the medium of Instruction in the rural schools."

(L. S. of India Vol. I Part I 1927 p. 22-3.)

सर जार्ज ग्रियर्सन के कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त आर्यावर्त या ठेठ हिंदुस्तान की राष्ट्र तथा शिष्ट भाषा हिंदी या हिंदुस्तानी है। कचहरी शिक्षा तथा शिष्ट व्यवहारों में इसी का प्रयोग होता है। विचार करने की बात है कि सर जार्ज ग्रियर्सन के इस निष्कर्ष में कहीं 'उर्दू' का पता भी नहीं है। सच पूछिए तो 'तहक़ीक़ात लसानी' या 'भाषा सर्वे' ने यह सिद्ध कर दिया है कि वस्तुतः हिंदी ही आर्यावर्त की राष्ट्र-भाषा है। सर जार्ज ग्रियर्सन के प्रकृत अवतरण पर ध्यान दीजिए। आपको स्पष्ट दिखाई देगा कि उन्होंने हिंदी को प्रधानता दी है और हिंदोस्तानी को गौण बना दिया है। सर्वत्र 'हिंदी या हिंदो-

स्तानी' कहा है, कुछ हिंदोस्तानी या हिंदी नहीं। कहीं कहीं तो केवल हिंदी को ही रहने दिया है, उसे 'हिंदोस्तानी' नहीं बनाया है।

सर जार्ज ग्रियर्सन ने हिंदी को इतना महत्त्व दिया है कि भाषाओं के वर्गीकरण में उसी को मूल स्थान दिया है। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है :—



हम यहाँ स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि सर जार्ज ग्रियर्सन अँगरेज और कचहरी के आदमी हैं। अँगरेज होने के नाते उन्हें 'पासंग' का लाभ उठा 'हिंदोस्तानी' को महत्त्व देना है और कचहरी में शासक के रूप में प्रतिष्ठित रहने के कारण उर्दू या कुछ पुरानी राज-भाषा का पक्ष लेना है। यह उसी पक्ष का परिणाम है कि उक्त साहब ने 'हिंदुस्तानी' के ठेठ, शुद्ध और व्यापक रूप को भ्रष्ट समझकर उसे 'हिंदोस्तानी' कर दिया है और दावे के साथ लिख दिया है कि फारसी में शुद्ध रूप 'हिंदोस्तान' है, 'हिंदुस्तान' नहीं, हालाँकि फारसी में भी हिंदुस्तान शुद्ध या सही है।

हाँ, तो कहना यह है कि उर्दू के आग्रह तथा हिंदोस्तानी के मोह के कारण सर जार्ज ग्रियर्सन की पैनी प्रतिभा भी कुंठित हो गई है और फलतः उनका वर्गीकरण भी प्रमाद का कारण हो गया है। ग्रियर्सन साहब की मूल-हिंदी को राष्ट्र-भाषा और हिंदोस्तानी की बच्ची हिंदी को काव्य-भाषा मान लेने से विरोध का समाधान अंशतः हो जाता है। पर इससे नाम की गुत्थी सुलझ नहीं सकती। उन्होंने स्वयं कहा है कि हिंदी बोलचाल या व्यवहार की भाषा है और समस्त आर्यावर्त में बोली जाती है। देखिए:—

"Hindi......A form of the Hindostani dialect of Western Hindi, widely spoken throughout Northern India." (वही पृ० ४५४)

सर जार्ज ग्रियर्सन के उक्त कथन का अर्थ यह हुआ कि हिंदी की प्रकृति हिंदोस्तानी है जो मेरठ तथा उसके उत्तर में बोली जाती है। निवेदन है कि कृपया उसका भी कोई देशपरक नाम रख दीजिए जैसा कि अन्य भाषाओं का स्वतः रखा है। अस्तु, ग्रियर्सन साहब चाहते तो उसे मेरठी आसानी से कह सकते थे। परंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। कारण प्रत्यक्ष है। उनके सामने 'उर्दू' का कैंप या बाजारी[1] अर्थ है। उन्हें बताना है

१—उर्दू के बाजारी और लश्करी अर्थों के भक्तों को पता होना चाहिए कि बाजार तथा लश्कर में किस तरह के और कितने शब्द प्रयुक्त होते हैं। यदि उर्दू में सिर्फ लश्करी और बाजारी लफ्ज होते

कि हमारी राष्ट्र-भाषा हिंदी कैंप, बाजार या लश्कर में बनी और उसका प्रचार मुगल-सामंतों ने किया। उनका कहना है कि यह लश्कर दिल्ली में जमा था। हिंदोस्तानी दिल्ली में बनी। ठीक है। खुद दिल्ली की 'देहलवी' तो विलायत चली गई और उसकी जगह मिली मेरठी को। मेरठी का जादू तो देखिए। दिल्ली के बाजार में जाकर किस छू मंतर से समस्त हिंदोस्तान की हिंदोस्तानी बन गई और दिल्ली को छोड़ फिर मेरठ में आ जमी तथा 'देहलवी' को खासी 'बाँगरू' बना दिया।

ग्रियर्सन साहब की त्रुटियों तथा उनके 'सर्वे' के दोषों को दिखाना हमें इष्ट नहीं है। हमें तो साफ साफ यह बता देना है

और विवाद केवल शब्दों तक ही सीमित रहता तो कभी भी हिंदी-उर्दू-द्वंद्व न छिड़ता। उर्दू के लोग कितने शब्दों को बाजारी लश्करी या हिंदुस्तानी समझते हैं, तनिक उनसे पूछ तो देखिए। आप को स्वयं सूझ जायगा कि आप किस भ्रम के शिकार बनाए जा रहे हैं और बहुत दिनों से किस तरह शान के साथ निर्बुद्धि बनते आ रहे हैं। यदि आप सचमुच उर्दू को समझना चाहते हैं तो हैदराबाद के उर्दू-प्रेम पर ध्यान दें और देखें कि किस प्रकार आज भी, इस बीसवीं सदी में भी, जनता की वाणी अरबी बनाई जा रही है और उसके हित के लिये सीधे अरबी से शब्द लिए ही नहीं जाते बल्कि ऐसे अरबी शब्द बनाए भी जाते हैं जिनका पता बेचारे अरबों और अरबी कोशकारों को भी नहीं है। आज उर्दू के लिये देहली और लखनऊ नहीं बल्कि हैदराबाद सती हो रहा है।

कि सर जार्ज ग्रियर्सन की 'तहक़ीक़ात लसानी' से भी हिंदी ही राष्ट्र-भाषा सिद्ध होती है। हिंदी को सर जार्ज ग्रियर्सन ने राष्ट्र-भाषा, काव्य-भाषा क्या लोक या बोलचाल की भाषा भी माना है। किसी खास जगह की न सही, उनकी दृष्टि में वह समस्त उत्तरी-भारत की तो शिष्ट और व्यवहृत बोलचाल की भाषा है। हमें इसी हिंदी को लेना है। यही हिंदी हमारी राष्ट्र-भाषा है। इसी को समस्त भारत अपनी राष्ट्र-भाषा मानता है। इसी को भाषाविदों ने भी राष्ट्र-भाषा का पद दिया है। रही उर्दू की बात। इसके विषय में सर जार्ज ग्रियर्सन का स्वतः कहना है :—

"A form of the Hindostani dialect of Western Hindi. It is generally written in Persian character and is distinguished by the free use of words borrowed from Persian or Arabic." (वही पृ० ५१३)

ग्रियर्सन साहब के प्रकृत कथन का भाव यह है कि हिंदी और उर्दू की 'प्रकृति' वस्तुतः एक ही है पर उनकी 'प्रवृत्ति' में भेद है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी प्रवृत्ति-भेद के कारण हिंदी तो भारत की राष्ट्र-भाषा है और इसी प्रवृत्ति-भेद के कारण उर्दू नहीं। ग्रियर्सन साहब ने कृपा कर 'लिपि' और 'कोश' का उल्लेख यहीं पर कर दिया है। उर्दू की लिपि 'फारसी' है और वह 'फारसी-अरबी' से शब्द उधार लेती है। उसकी इसी प्रवृत्ति ने उसे भारत से अलग कर दिया है। वह सचमुच अहिंदी हो गई है। लिपि और कोश की भाँति ही पिंगल, पद-योजना और साधन आदि सभी उपादान फारसी-अरबी से लिए जाते हैं।

यहाँ के तो नाम मात्र को भी नहीं होते। फिर उर्दू को सर जार्ज ग्रियर्सन राष्ट्र-भाषा क्यों मान लेते ? उन्हें कुछ हक का भी तो ख्याल रखना था ! आखिर उन्होंने भारत का भी तो नमक खाया था और नमक-हरामी को अपराध समझते थे। फिर किसी की दाद के लिये उसका गला क्यों घोटते और क्यों वरवस 'ऐन ग़ैन' को उसकी वाणी मान लेते ? भारत का 'शीन क़ाफ़' दुरुस्त करना उनके बूते के बाहर था।

अच्छा, यह तो हमने देख लिया कि वस्तुतः सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी हिंदी यानी हिंदुस्तानी को ही राष्ट्र-भाषा माना है, उर्दू यानी हिंदुस्तानी को नहीं। अब तनिक इतना और भी स्पष्ट देख लीजिए कि 'हिंदी-उर्दू में इख्तलाफ़ बल्कि सिर्फ़ इम्तयाज़' रखने पर भी हमारा दावा झूठ नहीं हो सकता। स्वयं सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'इख्तलाफ़ और इम्तयाज़' को रहने देकर हिंदी को समूचे 'शुमाली हिंद' की मुल्की जबान कहा है। फिर इस तरह उनकी दुहाई देकर मनमानी सनद से सरल जनता को ठगने की हकपरस्ती कैसी ?

हिंदी और उर्दू में बड़ा भेद है। प्रकृति या बोल के विचार से तो उर्दू हिंदी है पर प्रवृत्ति की दृष्टि से वह हिंदी की चहेती सौत है। हिंदी को मिटाने के लिये फारसी ने जो मायावी हिंदवी रूप धारण किया उसी का नाम आज उर्दू है। उर्दू हिंदी-रूप में छिपी फारसी है जो फ़ारसी के लद जाने पर देश में चालू की गई। देश से उसे कोई प्रेम नहीं। वह फारस-अरब और न जाने कहाँ की दूती है। उसका ध्येय कुछ और ही है।

उर्दू के इतिहास से अनभिज्ञ होने के कारण यह प्रवाद सहसा फैल गया कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है; उनकी मजहबी जबान है। उर्दू के जन्म से पहले हिंदी ही मुसलमानों की भाषा थी। उसी में धार्मिक पुस्तकें भी लिखी जाती थीं। उनका नाम भी हिंदी होता था। अभी उस दिन फजली ने 'दह-मजलिस' को 'करबल कथा' के शुद्ध संस्कृत नाम से प्रचलित किया था और करबल को 'करबला' का द्योतक तथा पशुबल का बोधक बना लिया था। भारत के मुसलमानों ने भारत की भारती का निरादर तो तब किया जब वे कहीं के न रह गए।

भाषा से परास्त होकर फारसी किस तरह उर्दू के रूप में दरबारी मजलिसों में चल निकली, इसकी चर्चा का यह स्थान नहीं। यहाँ इतना ही जान लीजिए कि आसमानी किताबों के पाबंद किसी जमीनी जबान को मजहबी जबान कह ही नहीं सकते। यही कारण है कि तुर्क और फारस आज अरबी का बहिष्कार करने पर भी सच्चे मुसलिम बने हुए हैं और भारत के मुसलमानों के नाज के कारण हो रहे हैं। हाँ, कट्टर अहमदी अवश्य ही नहीं रहे।

अँगरेजों की देख-रेख तथा सर सैयद अहमदखाँ की कृपा से हिंदी-उर्दू का फसाद किस तरह खड़ा हुआ और किस तरह चटपट मजहबी रूप में सामने लाया गया, इसका भी एक रहस्य है। इसका उद्घाटन शीघ्र ही कर दिया जायगा। अभी इतना जान लीजिए कि सैयद अहमदखाँ ने अपनी युवावस्था के दिनों में साफ साफ लिख दिया था :—

"यह ज़बान बादशाही बाजारों में मुरव्वज थी, इस वास्ते उसको ज़बान उर्दू कहा करते थे और बादशाही अमीर-उमरा इसको बोला करते थे। गोया कि हिंदुस्तान के मुसलमानों की यही ज़बान थी।"—असारुस् सनादीद, प्रथम संस्करण, बाब चौथा सन् १८४८ ई०।

'बादशाही अमीर-उमरा' और 'हिंदुस्तान के मुसलमान' एक ही चीज हैं। प्रमादवश नहीं, सोच-विचारकर सर सैयद ने यह निर्णय किया था और इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि हिंदुस्तान की 'रज़ील क़ौमें, जो अपने को मुसलमान कहती हैं, 'मुसलमानों' में नहीं हैं।' उनकी कमेटी का दावा है—

"मुसलमान इस मुल्क के रहनेवाले नहीं हैं। आला या औसत दरजः के लोग अपने मुल्क से यहाँ आकर आबाद हुए। उनकी औलाद ने हिंदोस्तान की बहुत सी जमीन को आबाद किया और कुछ यहाँ के लोगों को, जो इस मुल्क की अदना क़ौमों में से न थे, अपने साथ शामिल कर लिया।" (रूयदाद इजलास सन् १८७२ ई० पृ० ४) विस्मित न हूजिए, आगे चलकर आपको स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि अहमदी दुनिया में 'मुसलमान' का असली अर्थ क्या है। सर सैयद अहमद खाँ का दावा है।

"इँगलिश नेशन हमारे मफ़तूह मुल्क में आई मगर मिस्ल एक दोस्त के न कि बतौर दुश्मन के।.....पस कोई वजह नहीं कि हम में और उनमें सिम्पथी न हो। सिम्पथी से मेरी मुराद बिरादराना व दोस्ताना सिम्पथी है।" (हयात जावेद में पृ०

२४८—४६ पर अवतरित; मुसलिम यूनिवर्सिटी संस्करण सन् १६२४ ई०)।

सारांश यह कि उर्दू वास्तव में फ़ातेह (विजयी) मुसलमानों की भाषा है न कि हिंद के मफ़तूह (विजित) मुसलमानों की भाषा। हिंदी मुसलमानों की जबान हिंदी है न कि उर्दू या प्रच्छन्न फारसी। हिंदी-उर्दू के विवाद में भूलना न होगा कि वास्तव में उर्दू हिंद के जित-जयी मुसलमानों या भारत के जयचंदों की भाषा है। वह कभी हमारी राष्ट्र-भाषा हो ही नहीं सकती। 'हमारी' से हमारा तात्पर्य उन जीवों से है जिनके बाप-दादे न जाने कितने दिनों से इस देश को अपना घर समझते और इसकी मर्यादा तथा गौरव के लिये कण-कण जूझते आ रहे हैं। हम उन्हें हिंदी कहते हैं। आप चाहे हिंदू कहें या मुसलमान, इससे हमें कुछ बहस नहीं। बहस इस बात से है कि उर्दू उनकी मुल्की जबान नहीं। हिंदी उनकी मातृभाषा है। वही हिंद की असली राष्ट्र-भाषा है। हाँ, उर्दू फ़ातेहों की जबान है मफतूहों की भाषा नहीं। स्पष्ट है कि हिंदी मुसलमान भी मफ़तूह या मफ़तूहों की संतान हैं, कुछ फ़ातेह या फ़ातेहों के उत्तराधिकारी नहीं। अतः उर्दू उनकी भी भाषा नहीं। निदान उन्हें भी वही करना चाहिए जो उनके सहधर्मी फारस या तुर्क कर रहे हैं। अरे नकल भी करें तो स्वाधीन तुर्कों की, न कि पराधीन अर्ध-मित्रों की।

राष्ट्रभाषा का नाम

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की नागपुर की बैठक में एक अद्भुत बात यह निकल आई कि हमारी राष्ट्र-भाषा का नाम हिंदी या हिंदुस्तानी न रहकर 'हिंदी-हिंदुस्तानी' हो गया और इसने धीरे-धीरे फिर हिंदी-उर्दू प्रश्न को उभार दिया। 'हिंदी-हिंदुस्तानी' का नामकरण यद्यपि नवीन न था तथापि उसके प्रयोग में आ जाने से संप्रदाय-विशेष में बड़ी खलबली मची और इस बात की भरपूर चेष्टा की गई कि हिंदी-हिंदुस्तानी का रहस्य खोल दिया जाय। सच पूछिए तो 'हिंदी-हिंदुस्तानी' कोई भेद भरी बात नहीं है बल्कि उलझन से बचने का एक सहज उपाय है। इस उपाय को अमोघ अस्त्र समझना भारी भूल है। आज से बहुत पहले सन् १८०० ई० के लगभग डॉक्टर गिलक्रिस्ट ने भी इस अस्त्र से काम निकालना चाहा था पर वह सर्वथा निष्फल गया। उनकी 'हिंदी-हिंदुस्तानी' अथवा 'हिंदी-रेखता' का अर्थ समझा गया 'सलीस उर्दू'। वही सलीस उर्दू जिसे आज भी प्रमाद-वश कुछ लोग हिंदुस्तानी कहते हैं, किंतु महात्मा गांधी की 'हिंदी-हिंदुस्तानी' का अर्थ अब 'सलीस उर्दू' नहीं हो सकता। यह आशंका है कि कहीं वह ठेठ या गवाँरी हिंदी न बन जाय। इसी लिये 'हिंदी-हिंदुस्तानी' का प्रयोग 'उर्दू' के लिये घातक समझा जाता है और 'हिंदी' का नाम भी असह्य हो गया है।

प्रश्न उठता है कि 'हम क्या करें'। अपनी राष्ट्र-भाषा को हिंदी कहें या हिंदी-हिंदुस्तानी या हिंदुस्तानी अथवा वर्गविशेष की सनद के लिये उसे उर्दू के रूप में स्वीकार करें ?

प्रसन्नता की बात है कि मुसलिम संस्कृति के प्रकांड पंडित तथा उर्दू अदब के अच्छे ज्ञाता मौलाना सैयद सुलेमान[1] नदवी ने सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि हमारी भाषा का नाम उर्दू नहीं बल्कि हिंदोस्तानी ही होना चाहिए। इतना ही नहीं, इससे भी कहीं बड़ी और अपूर्व बात यह हुई कि उर्दू के प्राण डा० मौलाना अब्दुल हक साहब ने भी इस पर ध्यान दिया है और उर्दू की जगह हिंदोस्तानी को पसंद किया है। इस दशा में एकता चाहनेवालों को लालच होगा कि 'हिंदी' नाम को मिटाकर हिंदोस्तानी को ग्रहण कर लिया जाय और व्यर्थ के विवाद से पिंड छुड़ाया जाय। अस्तु, हमारा कर्तव्य है कि हम उनकी इस मृगमरीचिका का उद्घाटन करें और संक्षेप में यह दिखा दें कि आखिर इसका भेद क्या है।

१—२६ मार्च सन् १६३७ ई० को अलीगढ़ में उक्त मौलाना साहब ने 'आल इंडिया एजुकेशनल कान्फ्रेंस' के उर्दू-विभाग में 'हमारी ज़बान का नाम' नामक एक व्याख्यान दिया जिसमें पुष्ट प्रमाणों के आधार पर सिद्ध कर दिखाया कि किसी भी दृष्टि से 'हमारी ज़बान' का नाम 'उर्दू' ठीक नहीं पड़ता। उसका नाम हिंदोस्तानी होना चाहिए। उक्त लेख 'अलीगढ़ मैगजीन' जुलाई सन् १६३७ में प्रकाशित हो गया है।

हिंदीवालों को गार्सां द तासी का उतना पता नहीं जितना उर्दूवालों को। उर्दूवाले उनको अपना हितू समझते हैं और उनकी बातों को प्रायः प्रमाण के रूप में उद्धृत करते रहते हैं। हिंदी-उर्दू के विवाद के प्रसंग में एक जगह वे कहते हैं (.खुतबात गार्सां द तासी १६३३।)

"यह दर असल बड़ी भारी ग़लती होगी अगर उर्दू और हिंदी को दो मु.ख्तलिफ़ ज़बानें तसव्वुर किया जाय।" स्पष्ट है कि गार्सां द तासी भी भाषा की दृष्टि से हिंदी और उर्दू को एक ही मानते हैं और उन्हें अलग अलग मान लेना भूल ही नहीं बल्कि भारी भूल समझते हैं। फिर भी उर्दू के हिमायती यह दावा करते और हमसे उत्तर माँगते हैं कि हम भाषा के विचार से हिंदी और उर्दू को एक ही क्यों समझते हैं। देखिए, एक सज्जन का कहना है—

"हम को जो कुछ शिकायत है वह यह है कि हिंदी और हिंदोस्तानी को हममानी और मुरादिफ़ क्यों ठहराया गया है।" (अलीगढ़ मैगजीन, जुलाई १६३७।)

उक्त सज्जन की राय है (देखिए अलीगढ़ मैगजीन, अक्तूबर सन् १६३३ पृ० २७।) "आजकल जिसको 'हिंदी' कहते हैं वह पूरब की एक सूबःवार बोली है, जिसके लिये कोशिश की जा रही है कि वह पूरे मुल्क की बोली हो जाय। मगर हक़ीक़त में इसका ऐसा नाम जिसकी मानूयत के दायरह में सारा हिंदोस्तान दाखिल हो जाय, .खुद विदेशी है फिर भी इसके लिये ऐसा नाम इ.ख्तियार करना इसलिये मुना-

सिव है कि इससे सारे मुल्क-हिंद का खयाल सामने आता है। वरनः अगर इसको ब्रजभाषा या पूरबी भाषा कह दिया जाय तो यह मुल्क के एक खास जुगराफ़ी हिस्सः के साथ खास हो जाय।"

'आधुनिक हिंदी' (खड़ी बोली या हिंदोस्तानी) ब्रजभाषा और पूरबी को एक ही बोली बनाना और हिंदीवालों को इस प्रकार व्यर्थ में कोसना किसी विद्वान्, राष्ट्रभक्त मौलवी को शोभा नहीं देता। पर किया क्या जाय! सर सैयद अहमदखाँ ने[1] 'हिंदी' को एक ऐसा हौवा बना दिया कि उनके बाद किसी मुसलमान को उस पर विचार करना असह्य हो गया और उसके नाम तक से विरोध करना मुसलिम-धर्म का निशान समझा गया।

सर सैयद अहमदखाँ 'हिंदी' को किस दृष्टि से देखने की शिक्षा दे गए हैं, तनिक इसे भी देख लीजिए। सन् १८७२ ई० की बात है। मुसलमानों की शिक्षा की उन्नति के लिये एक

१—सर सैयद अहमदखाँ के पहले से ही हिंदी का विरोध चला आ रहा था, पर उसमें विशेषता यह थी कि वह केवल मुसलमानों का आंदोलन होता था। दरबारी और अहिंदी यवन हो हिंदी की अवहेलना कर एक अलग भाषा फारसी की मदद से निकालकर 'इम्तयाज़' के लिये अपने बीच में चालू करना चाहते थे। परंतु सर सैयद अहमदखाँ को इतने ही से संतोष न हुआ। उन्होंने सरकार की सहायता से हिंदी को घर-घर से खदेड़ना चाहा।

कमेटी बनी थी। उसके विधाता तथा मंत्री स्वयं सैयद साहब थे। हिंदी के विषय में उनकी अलग और असल राय यह थी—

"मुसलमानों के हक़ में अब यह बात मुफ़ीद नहीं है कि कोई अम्र उनके फ़ायदह और उनकी हालत के मुनासिब किया जावे बल्कि तमामतर अमूर उनकी हालत और फ़ायदह के बरख़िलाफ़ होंने, उनके हक़ में निहायत फ़ायदह ब.ख़्शेंगे। हमारी राय यह है कि तमाम देहाती और तहसीली मकतब बिल्कुल हिंदी और नागरी कर दिए जाएँ। तमाम अदालतों की ज़बान और ख़त बिलकुल हिंदी और नागरी कर दिए जाएँ ताकि मुसलमानों की हालत ऐसी अबतर और ख़राब हो जावे कि उनकी तमाम चीज़ों और तमाम ज़रूरियातें बिलकुल नेस्त और नाबूद हो जावें और किसी क़िस्म का रोज़गार उनको मुयस्सर न हो।"

सर सैयद ने कभी उर्दू को मुसलमानों की भाषा कहा था और उसे हिंदी का नाम भी दिया था पर आगे चलकर उन्होंने 'हिंदी' का घोर विरोध किया और मुसलमानों को कट्टर हिंदी-द्वेषी बना दिया। उन्हें 'हिंदी' शब्द से भी चिढ़ हो गई और उसका नाम लेना अधर्म समझा गया।

'हिंदी' शब्द के सामने 'उर्दू' नाम टिक नहीं सकता। उसमें अनेक दोष हैं। उसके बारह दोषों का उल्लेख कर सैयद सुलेमान साहब ने अपील की है कि उर्दू वाले अपनी भाषा को अब हिंदोस्तानी कहें जिससे वह आसानी से हिंदोस्तान की मुल्की ज़बान यानी हमारी राष्ट्रभाषा मान ली जाय।

राष्ट्रभाषा के लिये हिंदोस्तानी शब्द को चालू कर देने का परिणाम यह हुआ है कि 'हिंदी' एक अलग गँवारी बोली मान ली गई है। मुसलमानों ने 'हिंदी' का विरोध और 'हिंदोस्तानी' का आग्रह एक विशेष उद्देश्य से किया। आरंभ में अँगरेजों को इस बात का भ्रम हो गया था कि हिंदी हिंदुओं की भाषा है। वे उसे 'हिंदवी' समझते थे। फारसीवालों ने कभी हिंदवी को हिंदी से अलग अथवा केवल हिंदुओं की भाषा नहीं कहा। उनके सामने हिंदी और हिंदवी एक ही भाषा थीं। दोनों का अर्थ भी एक ही था। 'हिंदू' का वास्तविक अर्थ हिंदी यानी हिंद का निवासी है। सर सैयद ने भी एक जगह स्पष्ट कहा है—

"यही मु.ख्तलिफ़ वजूहात हैं जिनकी बिना पर मैं इन दोनों क़ौमों को, जो हिंदोस्तान में आबाद हैं, एक ल.फ्ज़ से ताबीर करता हूँ कि 'हिंदू' याने हिंदोस्तान की रहनेवाली क़ौम।"—(हयात जावेद, अलीगढ़ संस्करण पृ० ५६० ।)

सर सैयद यदि इसी विचार पर आरूढ़ रहते और 'हिंदू' की जगह हिंदी का व्यवहार करते तो आज हिंदी-उर्दू का द्वंद्व न छिड़ता और हमारी सारी शक्ति व्यर्थ के विवादों में नष्ट न होती। अस्तु, अँगरेजों ने हिंदी को हिंदवी और फिर उसके आधार पर उसे हिंदुओं की भाषा अपने आप ही मान लिया और राज-काज की चलती सरकारी भाषा को विमोह-वश शुद्ध हिंदुस्तानी समझ लिया। इस प्रकार हिंदुस्तानी का अर्थ दरबारी या उर्दू हो गया और फिर हिंदवी के आधार पर वह

मुसलमानों की भाषा कही गई। नहीं तो वास्तव में वह दरबारी या फारसीदाँ लोगों की चलित भाषा थी।

अँगरेजों ने अध्ययन के आधार पर आगे चलकर अपनी भूल को सुधार लिया और हिंदोस्तानी का अर्थ किया हिंदी तथा उर्दू के सामान्य बोलचाल का रूप यानी खड़ी बोली। अब हिंदोस्तानी का प्रयोग हिंदी तथा उर्दू दोनों के लिये निश्चित हो गया और उसका व्यवहार बोलचाल की चलित राष्ट्र-भाषा के लिये होने लगा। कांग्रेस तथा राष्ट्र के नेताओं ने इस शब्द का व्यवहार इसी अर्थ में किया और चाहा कि इसके प्रयोग से हिंदी-उर्दू का द्वंद्व नष्ट हो जाय। पर उनको सफलता न मिली। हिंदोस्तानी का अर्थ उर्दू माना गया और 'हिंदी' को उससे सर्वथा भिन्न कहा गया। हिंदी का प्रचार राष्ट्र-भाषा का विरोधी समझा जाकर हिंदू-हित की आशंका से फिर उर्दू का झंडा खड़ा किया गया। उर्दू ही असली हिंदुस्तानी कही गई। हिंदी कल की बनावटी भाषा घोषित की गई।

'हिंदुस्तानी' के प्रयोग से किसी झगड़े का अंत न हुआ बल्कि उर्दू वालों में एक नया विवाद खड़ा हो गया। 'हिंदुस्तानी एकेडमी' का तिमाही रिसाला निकला। उसके 'हिंदुस्तानी' रूप पर कोलाहल मच गया। कुछ बिना 'वाव' की हिंदुस्तानी को ठीक नहीं समझते थे तो कुछ उसी का आग्रह करते थे। तद्भव अथवा ठेठ रूप के उपासक सर जार्ज ग्रियर्सन भी बोस्ताँ के वजन पर हिंदोस्ताँ को ही शुद्ध[1] समझते हैं और फलतः हिंदु-

१—उर्दू वालों की यह प्रवृत्ति विचारणीय है। पुराने उर्दू-

स्तानी को हिंदोस्तानी लिखने का विधान करते हैं। उधर प्रयाग-विश्वविद्यालय के डाक्टर अब्दुलसत्तार सिद्दीकी जैसे धुरंधर विद्वान् हिंदुस्तानी को शुद्ध सिद्ध करते हैं और हिंदुस्तान बगैर 'वाव' की सनद फारसी तथा उर्दू के उस्तादों के कलाम से पेश करते हैं। सारांश यह कि स्वयं 'हिंदुस्तानी' शब्द ही झगड़े का कारण बन गया है और पाठकों को हिंदुस्तान से निकाल कर फारस में फेंक दिया है। उसका निपटारा उर्दू में भी नहीं हो सका। इसके लिये विदेश की सनद लानी पड़ी है। क्या यही है राष्ट्र-भाषा का सच्चा नाम! और यही है एकता का सच्चा उपाय !!

हिंदुस्तानी के हिमायतियों को भूलना न होगा कि हिंदोस्तानी शब्द एकांगी अथवा मुसलमानों के प्रतिकूल है। हिंदोस्तान का सीधा-सादा अर्थ है हिंदुओं का स्थान अथवा वह देश जिसमें हिंदुओं का निवास हो। प्रत्यक्ष है कि हिंद में हिंदू ही नहीं बल्कि मुसलमान भी रहते हैं और वे आज अपने को किसी प्रकार हिंदू कहने के लिये तैयार भी नहीं हैं। निदान उनके विचार

लेखकों की यह प्रवृत्ति न थी। फारसी-अरबी के शब्द शुद्ध तत्सम रूप में प्रयुक्त नहीं होते थे प्रत्युत उनके उन्हीं रूपों का प्रयोग किया जाता था जो ठेठ तद्भव होते थे। बाद में फारसी के प्रभाव में आ जाने से उन्हें शुद्ध तत्सम रूप दिया गया और बहुत से हिंदी शब्दों को मुअर्रब तथा मुअज्ज़म बना लिया गया। अँगरेजी का आना भी उर्दू में 'आनः' हो गया, वह हिंदी का आना नहीं रहा।

से हमारी राष्ट्र-भाषा का नाम हिंदोस्तानी भ्रामक तथा अग्राह्य है। इसके विपरीत हिंदी में इस तरह की कोई अड़चन नहीं है। मुसलमान भी शौक से अपने को हिंदी कहते हैं। सर सैयद अहमदखाँ तक ने इस भाषा को हिंदी कहा था और मिर्जा गालिब[1] ने तो इसे बार-बार हिंदी कहा है।

हाँ, तो हिंदोस्तानी शब्द का ठेठ अर्थ हिंदुस्तानी अर्थात् हिंदू है। ग्रामीणों के मुँह से तो आपने अनेक बार हिंदुस्तानी और मुसलमान का प्रयोग हिंदू और तुरुक के अर्थ में सुना होगा। कृपा करके आज मौलाना हाली के मुँह से भी हिंदुस्तानी का ठेठ अर्थ सुन लीजिए। 'हयात जावेद' यानी सर सैयद की जीवनी में उन्होंने कई बार इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया है। 'गदर' के बाद हिंदू क्या कर रहे थे, इसका पता मौलाना हाली स्वदेश-वासियों को इस प्रकार देते हैं—

१—मिर्जा गालिब के पत्रों का एक संग्रह उर्दू-ए-मुअल्ला के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें न जाने कितनी बार एक ही भाषा को हिंदी उर्दू और रेखता कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि गालिब के समय तक दिल्ली में 'हिंदी' का व्यवहार प्रायः होता था। सन् १८५७ के गदर के बाद दिल्ली की शाही उलट गई। सन् १८६२ ई० में हिंदी-उर्दू का प्रश्न शिक्षा के संयोजकों के सामने एक नवीन रूप में आया। सर सैयद की कृपा से यह द्वंद्व इतना बढ़ा कि 'हिंदी' का नाम ही उर्दू का विरोधी हो गया और उर्दू अब उर्दू हिंदी नहीं रही, बल्कि निरी उर्दू हो गई।

"हिंदुस्तानी ख़ैर.ख़्वाही सरकार की आड़ में मुसलमानों से दिल खोल-खोलकर बदले ले रहे थे और अगले-पिछले बुग्ज़ निकाल रहे थे।........अँगरेज़ हिंदुस्तानियों की आदत, तबीयत और तर्ज़-ख़यालात से नावाक़िफ़ थे। मुल्क की हुक़ूमत उन्होंने मुसलमानों से ली थी और उन्हीं को वह अपना हरीफ़ और सल्तनत का मुद्दई समझते थे।" (हयाद जावेद वही, पृ० ६०।)

अब तो किसी को भी संदेह न रहा होगा कि ठेठ दृष्टि से भी हिंदोस्तानी हिंदुओं की ही भाषा ठहरी और वह स्वभावतः मुसलमानों को प्रिय नहीं हो सकती। कदाचित् यही कारण है कि हम इस भाषा के लिये हिंदी तथा हिंदवी का प्रयोग तो प्रायः पाते हैं पर हिंदोस्तानी का कहीं[1] नहीं।

हिंदोस्तानी नाम की प्राचीनता के संबंध में जो प्रमाण दिए गए हैं उनमें से दो तो इतिहास से लिए गए हैं जिनमें से एक में साफ साफ कह दिया गया है कि अली आदिलशाह सानी ने फारसी का इतना अभ्यास किया कि वह हिंदोस्तानी बोलना भूल

१—'कहीं नहीं' का प्रयोग तो इस बात का ध्यान रखते हुए किया गया है कि सैयद सुलेमान नदवी प्रभृति उर्दू के प्रचंड पंडितों ने हिंदोस्तानी की प्राचीनता को सिद्ध कर देने का प्रयत्न किया है और वे अंशतः अपने प्रयास में सफल भी हो गए हैं। पर विचारणीय बात यह है कि हिंदोस्तानी का रूढ़ प्रयोग भाषा के अर्थ में कब से चालू हुआ है, किसने हमारी भाषा को हिंदोस्तानी के नाम से याद किया? मुसलमानों ने या फ़िरंगियों ने?

गया—"फ़ारसी रा ख़ूब सी गुफ़ किताब हिंदोस्तानी मुत्कल्लिम नमी शुद।" अब आप स्वयं विचार सकते हैं कि इतिहास का यह प्रमाण कहाँ तक आपके हृदय में हिंदोस्तानी का प्रेम उत्पन्न करता है। साथ ही इस बात का ध्यान रखें कि इसी अली आदिलशाह का राजकवि नसरती इस बात का दावा करता है कि उसने दक्खिनी जबान को कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया—

"जनम खाम था सो दक्खन का कलाम,
हुआ पोख्त तुझ तरबियत ते तमाम।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि नसरती का मतलब है कि अली आदिलशाह सानी के शासन में दक्खिनी में फारसी का बोलवाला हो गया और भाषा फारसी की ओर मुड़ गई। अच्छा हो, इसे उसी के मुँह से सुन लें। उसका कहना है—"दखिन का किया शेर जों फ़ारसी।"[१]

बादशाहनामा में 'हिंदोस्तानी' के साथ भाषा का स्पष्ट उल्लेख है। 'हिंदोस्तानी जबान' में हिंदोस्तानी संज्ञा नहीं, विशेषण है। निदान हम उसे रूढ़ नहीं कह सकते। 'जबान हिंदोस्तान' के प्रयोग में भी यही बात पाई जाती है। अस्तु, हमें मानना पड़ता है कि हमारी भाषा का 'हिंदोस्तानी' नाम मुसलमानों का दिया हुआ नहीं, बल्कि गोरांग प्रभुओं का चालू किया हुआ है।

हिंदी तथा हिंदुस्तानी के विषय में नोट करने की बात यह है कि हिंदुस्तानी का एक ठेठ अर्थ है—सामान्यतः संयुक्तप्रांत

१—उर्दू (वही) अक्तूबर सन् १९३४ ई० पृ० ९२३।

अथवा मध्यदेश का निवासी। बंगाली लोग हिंदुस्तानी का यही अर्थ लेते हैं। इसी अर्थ को लक्ष्य करके कदाचित् मीर अमन देहलवी ने कहा था—

"सो उर्दू की अरास्त: कर ज़बान,
किया मैंने बंगाला हिंदोस्तान।"

हमारी धारणा है कि आरंभ में इसी हिंदोस्तान की भाषा को अँगरेजों ने हिंदोस्तानी कहा और इसी कमी को लक्ष्य कर प्रसिद्ध फ्रेंच पंडित गार्सां द तासी ने अपने सन् १८५२ ई० के व्याख्यान में घोषित किया—

"हज़रात! लफ्ज़ हिंदोस्तानी उस ज़बान के हक़ में जिसके लिये यह इस्तेमाल किया जाता है नामौज़ूँ है और उसे इस नाम से याद करना हमारी बद मज़ाक़ी है। अलबत्त: उसको हिंदोस्तानियन कहा जा सकता है। मगर अँगरेजों की तक़लीद में हमने भी इसकी इब्तदाई शकल को क़ायम रखी जैसा कि नाम से ज़ाहिर है। हिंदोस्तानी अह्ल हिंदोस्तान की ज़बान है। मगर यह ज़बान अपने हक़ीक़ी हदूद से बाहर भी बोली जाती है। खसूसन् मुसलमान और सिपाही इसको तमाम जज़ीरह-नुमा हिंदोस्तान नीज़ ईरान, तिब्बत और आसाम में भी बोलते हैं। पस इस ज़बान के लिये ल.फ्ज 'हिंदी' या 'इंडियन' जो इब्तदा में इसको दिया गया था और जिस नाम से कि अक्सर बाशिंदे उस मुल्क के अब तक इसको मौसूम करते हैं उस नाम से ज़्यादह मौज़ूँ है जो अह्ल यूरप ने अ.ख्तियार किया है। अह्ल यूरप ल.फ्ज हिंदी से हिंदुओं की बोली मुराद लेते हैं जिसके लिये

'हिंदवी' बेहतर है। और मुसलमानों की बोली के वास्ते 'हिंदोस्तानी' का नाम क़रार दे लिया है। ख़ैर, यह जो कुछ भी हुआ, हिंदोस्तान की इस जदीद ज़बान की दो बड़ी और ख़ास शाख़ें ब्रिटिश इंडिया के बड़े हिस्से में बोली जाती हैं और शुमाल के मुसलमानों की ज़बान यानी हिंदोस्तानी उर्दू मुमालिक मग़रबी व शुमाली की सरकारी ज़बान क़रार दी गई है। अगर च हिंदी भी उर्दू के साथ-साथ उसी तरह क़ायम है जैसे कि वह फ़ारसी के साथ थी। वाक़आ यह है कि मुसलमान बादशाह हमेशः एक हिंदी सिक्रेटरी, जो हिंदी-नवीस[1] कहलाता था और एक फ़ारसी सिक्रेटरी जिसको वह फ़ारसी-नवीस कहते थे, रखा करते थे ताकि उनके अहकाम उन दोनों ज़बानों में लिखे जायँ। इसी तरह ब्रिटिश गवर्नमेंट मुमालिक मग़रबी व शुमाली में हिंदू आबादी के मुफ़ाद के लिये अक्सर औक़ात सरकारी क़वानीन का उर्दू किताबों के साथ हिंदी तरजुमः भी देवनागरी हरूफ़ में देती है।" (ख़ुतबात गार्सां द तासी; १८५२ ई० का व्याख्यान, पृ० १७-१८।)

इस लंबे अवतरण से स्पष्ट हो गया होगा कि हमारी राष्ट्र-भाषा का इतिहास क्या है और क्यों हमें उसका नाम 'हिंदी' ही पसंद करना चाहिए। साथ ही यह भी प्रत्यक्ष हो गया होगा कि उर्दू वालों के हिंदोस्तानी-प्रेम का रहस्य क्या है। क्यों वे

१—कंपनी के शासन में भी हिंदी-नवीस थे जिनका वेतन फारसी-नवीसों से कुछ कम था। 'आईन' में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

हिंदी को मिटाकर हिंदोस्तानी को राष्ट्रभाषा की गद्दी पर बिठाना चाहते हैं और हिंदोस्तानी की आड़ में उर्दू के प्रचार का स्वप्न देखते हैं।

'हिंदोस्तानी' का नाम राष्ट्र-भाषा के लिये चल निकला। विद्वानों ने काव्यगत उसके दो भेद मान लिए—हिंदी और उर्दू। इस प्रकार हिंदी हिंदोस्तानी के भीतर बनी रही। उसको मिटाने के लिये अब यह चाल चली जा रही है कि प्राचीन ग्रंथों में जहाँ कहीं हिंदोस्तानी शब्द दिखाई देता है वहाँ उसके सामने कोष्ट में उर्दू लिख दिया जाता है। प्रमाण के लिये गार्सां द तासी का यह कथन लीजिए—

"इस वक्त इस कालेज में (कैनिंग कालेज, लखनऊ) तीन जमाअतें हैं—(१) 'हिंदोस्तानी (उर्दू) की जमाअत, (२) अँगरेजी की जमाअत, (३) आला जमाअत। हिंदोस्तानी की जमाअत में अँगरेजी नहीं पढ़ाई जाती बल्कि हिंदोस्तान की इल्मी जबानों की तालीम दी जाती है। इस जमाअत में एक सौ सैंतालीस तुल्बः हैं। उनमें सात फ़ारसी सीखते हैं, तीस संस्कृत और सत्तर अरबी की तहसील करते हैं।" (वही, पृष्ठ ६०६)

प्रत्यक्ष है कि प्रकृत प्रसंग में कहीं 'उर्दू' का निशान भी नहीं है फिर भी उर्दू की भोली-भाली जनता को धोखा देने के लिये हिंदोस्तानी के सामने 'उर्दू' लिख दिया गया है जिससे यह सिद्ध हो जाय कि वस्तुतः उर्दू ही राष्ट्र-भाषा है।

इस प्रसंग को अधिक बढ़ाना व्यर्थ है। 'अंजुमन तरक्क़ी उर्दू' (औरंगाबाद) और अब 'अंजुमन तरक्क़ी उर्दू' (हिंद)

की किसी भी नवीन प्रकाशित पुस्तक या रिसाले को हाथ में ले लीजिए, आप देखेंगे कि हिंदोस्तानी शब्द के साथ कैसा अनाचार हो रहा है।

अस्तु, हमें 'हिंदोस्तानी' की मृग-मरीचिका में फँसकर अपने राष्ट्र-जीवन को नष्ट नहीं करना है, प्रत्युत उसी संज्ञा पर आरूढ़ रहना है जिसे हमने मिल-जुलकर बना लिया है। हमारी वह परंपरागत संज्ञा हिंदी ही है। हिंदी का नाम हमने मुसलमानों से सीखा है। अरब हमें सदा से हिंदी कहते आ रहे हैं। कोई कारण नहीं कि हम 'हिंदी' जैसे प्रिय, प्राचीन और सारगर्भित सुबोध शब्द को छोड़कर एक अस्थिर, संदिग्ध और एकांगी शब्द को केवल इसलिये ग्रहण करें कि वह उन लोगों को खल रहा है जो हमारे होते हुए भी सदैव हमसे अलग रहना ही अपना धर्म समझते हैं।

——

हिंदुस्तानी

'उर्दू-डे' के सिंहासन से सिंहनाद करते हुए जब 'हिंदुस्तानी' के सरपरस्त सर तेजबहादुर सप्रू ने हिंदुस्तानी को 'धोखे की टट्टी' घोषित कर दिया, तब उसकी आड़ में और अधिक दिन तक हिंदी का शिकार करना उचित नहीं कहा जा सकता। हम हिंदियों में इतनी ताब कहाँ कि हम कांग्रेस अथवा अँगरेजी सरकार से यह प्रार्थना करें कि वह हमें भी इस विशाल विश्व अथवा भारतवर्ष में कुछ फलने-फूलने का अवसर दे, और अपनी बदगुमानी के कारण प्रमादवश हमें पथ-भ्रष्ट करने की कृपा व्यर्थ ही न करे। हाँ, हिंदी के विद्यार्थी होने के नाते हम अपनी उदार सरकार से स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि कभी उसके जीवन में वह दिन भी था कि उसने स्वतः सत्य के अनुरोध अथवा शासन के सुभीते के लिये उसी हिंदी, हिंदुस्तानी अथवा नागरी को चुना था, जिसे आज भी हम समूचे भारत में राष्ट्र-भाषा तथा राष्ट्र-लिपि के रूप में पाते हैं और जिसके विषय में सर जार्ज ग्रियर्सन जैसे गंभीर भाषाविद् का विचार है कि वह समस्त उत्तर भारत की बोलचाल की व्यापक भाषा है। भाग्य अथवा दुर्भाग्य-वश आज उसी हिंदी के बारे में सैयद सुलेमान साहब[१] सरीखे मुसलिम संस्कृति के मर्मज्ञ की यह राय है—

१—अलीगढ़ मेगजीन, जुलाई सन् १९३७ ई०, पृ० ३।

"हिंदू भाइयों के दिलों में यह ख़याल ज़ोर पकड़ने लगा कि अब जब मुसलमानों की सल्तनत के दबाव से वह आज़ाद हो चुके हैं तो हमको इसलामी असर की हर चीज़ से आज़ाद होना चाहिए। इस बिना पर अँगरेज़ों की तफ़रीक की सयासी तहरीक बहुत कारामद साबित हुई। और सबसे पहले उसका असर ज़बान के मुआमिले में ज़ाहिर हुआ। और हिंदी के नाम से एक ज़बान की तबलीग़ शुरू हुई। और बाज़ सूबों में यहाँ तक किया गया कि उर्दू-ख़त तक अदालतों से ख़ारिज कर दिया गया। और अब यह तहरीक यहाँ तक ज़ोर पकड़ रही है कि यह कोशिश की जा रही है कि इस सूबे के चन्द शाअरों ने जिस भाषा में कुछ मज़हबी नज़्में कभी लिखी थीं वही पूरे मुल्क की ज़बान बना दी जाय।"

उचित तो यह था कि हमारे राष्ट्र-प्रेमी कांग्रेस-भक्त नेता हिंदुस्तानी के इतिहास पर ध्यान देते और इसके सच्चे स्वरूप का प्रचार पहले अदालतों में करते, फिर यदि मन न मानता तो साहित्य को भी उसके कठघरे में घेरने की मोहक चेष्टा करते। उनकी तथा सैयद साहब सरीखे हिंदुस्तानी-भक्तों की जानकारी के लिये नम्र निवेदन है कि हम उसी हिंदी, हिंदुस्तानी या नागरी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करते हैं, जिसके लिये शाही सरकार के अधीन कंपनी सरकार ने यह विधान कर दिया है—

"जीला के फौजदारी के साहेब लोग को लाजीम है के थाने-दारि के तहसीलदार सभ वो दारोगा को सनद मे इस आइन

का तरजमा फारसी भाखा वो अछर वो हीनदोसतानी भाखा वो नागरी अछर में देहि वो उस सनद वो तरजमा के ऊपर फौजदारी का मोहर वो अपना दसखत करहि।"—अँगरेजी सन १८०३ साल ३५ आइन २२ दफ़ा।

अब इस 'हीनदोसतानी भाखा वो नागरी अछर' को अच्छी तरह समझने के लिये आवश्यक है कि कुछ कंपनी सरकार के अन्य विधानों पर भी ध्यान दिया जाय। अस्तु, एक दूसरा विधान है—

"जो सीटामय सभ के अदालत के कागज के उपर कीआ जाऐगा उसके उपर नीचे का मजमुन फारसी वो बंगला भाखे वो अछर वो हीनदी जूबान वो नागरी अछर में खोदा जाऐगा।"
—अँगरेजी सन १८०३ साल ४३ आइन १५ दफा २ तफसील।

'हीनदी जूबान' का मतलब कहीं आप उर्दू न समझ लें, इसी लिये आपके सामने एक दूसरा विधान भी आता है और साफ साफ बतलाता है कि उसका अर्थ 'नागरी' है। तनिक सुनिए तो सही—

"किसी को ईस बात का उजर नहीं होऐ के ऊपर के दफे का लीखा हुकुम सभसे वाकीफ़ नहीं है हरी ऐक ज़िले के कलीकटर साहेब को लाजीम है के ईस आईन के पावने पर ऐक ऐक केता इसतहारनामा निचेके सरहसे फारसी वो नागरी भाखा वो अछर में लिखाऐ कै अपने मोहर वो दसखत से अपने जिला के मालीकान जमीन वो ईजारेदार जो हजुर में मालगूजारी फरता उन सभोके कचहरी में वो अमानि महालके देसि तहसीलदार

लोग के कचहरी में भी लटकावही।" (अँगरेजी सन १८०२ साल ३१ आईन २० दफा)

अब तो किसी भी विचारशील व्यक्ति को यह मानने में तनिक भी अड़चन न होगी कि वास्तव में उक्त विधानों में हिंदी, हिंदुस्तानी और नागरी का अर्थ है वही नागरी भाषा, जिसे हम मुसलमानों की देखादेखी हिंदी तथा अँगरेजों की कृपा से हिंदुस्तानी भी कहते हैं।

हिंदुस्तानी के विषय में प्रचलित तथा मान्य मत यही है कि वास्तव में यह नाम अँगरेजों का ही दिया हुआ है। पर इधर सैयद सुलेमान साहब की खोज तथा प्रयत्न से वह पुराना सिद्ध हो रहा है। इसलिये यहाँ कुछ उसके पुराने अर्थ पर भी विचार कर लेना चाहिए।

कहना न होगा कि सैयद साहब ने हिंदुस्तानी की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये जो प्रमाण दिए हैं, उनमें से एक[1] में कहा गया है कि बीजापुर के जाहिल बादशाह आदिलशाह सानी ने (१५८९ ई०—१५९५ ई०) फारसी का इतना गहरा अभ्यास किया कि हिंदोस्तानी बोलना भूल गया और दूसरे[2] में यह बतलाया गया है कि 'शाहजहाँ के दरबार में मुगलखाँ गवैया' था, जो 'हिंदोस्तानी जबान' के गानों में प्रवीण था। उक्त दोनों अवतरणों के प्रसंगों पर ध्यान देने से पता चलता है कि उनमें

१—अलीगढ़ मैगजीन, अक्टूबर सन् १६३३ ई० पृ० २४।

२— „ „ „ „ पृ० ३८।

जिस 'हिंदोस्तानी' की चर्चा की गई है, वह वही हमारी पुरानी हिंदी या हिंदवी है, न कि कल की दरबारी जबान उर्दू, जिसमें फारसी और अरबी की भरमार है। फारसी के अधिक अभ्यास के कारण जो भाषा सरलता से भूली जा सकती है, वह अवश्य ही खरी या ठेठ 'हिंदुस्तानी' ही होगी, न कि फारसी-अरबी से लदी हुई उर्दू। रही गाने की बात। उसे आज भी आजमाकर देख सकते हैं कि पक्के और प्रवीण गवैए की पहचान तथा भाषा क्या है। वह 'ग़ज़लगोई' और गाने का भेद स्वयं बताकर कोई पक्का हिंदी गाना आपके सामने रख देगा और तब आप स्वयं बादशाहनामे की 'हिंदोस्तानी ज़बान' अर्थात् हिंदी भाषा का अर्थ समझ जायँगे। याद रहे, शाहजहाँ के समय तक उर्दू[1] भाषा में कोई रचना नहीं हुई थी। वली का दीवान तो मुहम्मदशाह के समय में देहली पहुँचा और उनकी तूती 'हातिम' के सर पर सवार हो अहिंदी बोली बोलने लगी। फिर भला उससे इतने दिन पहले की भाषा को हम उर्दू क्योंकर मान लें? निदान हमें मानना पड़ता है कि उक्त अवतरणों

१—जो लोग उर्दू भाषा का घर गजनी, लाहौर, मुल्तान या किसी लश्कर या कैंप में ढूँढ़ने जाते हैं उन्हें याद रखना चाहिए कि उर्दू का यह रंग बनावटी और कल का है। भूलना न होगा कि पुराने मुसलिम लेखकों की दृष्टि में शाहजहानाबाद का उर्दू-ए-मुअल्ला ही उर्दू का स्रोत है। दरिया-ए-लताफत में सैयद इंशा ने इसे इतना स्पष्ट कर दिया है कि इसमें किसी प्रकार का मतभेद हो ही नहीं सकता।

में भी 'हिंदोस्तानी' का वही 'हिंदुस्तानी' अर्थ है, जो हम कुछ पहले ही ऊपर देख चुके हैं।

अब प्रश्न उठता है कि आखिर सैयद साहब को यह फतवा देने का साहस क्यों हो गया। क्यों उन्होंने दावे के साथ कहा[1]—

"हम अपने बदगुमान दोस्तों को बावर करना चाहते हैं कि यह लफ़्ज़ हिंदुस्तानी मुसलमानों के इसरार से और मुसलमानों की तुल्को तसल्ली के लिये रक्खा गया है और उससे मुराद हमारी वही ज़बान है जो हमारी बोलचाल में है। हमको जो कुछ शिकायत है वह यह है कि हिंदी और हिंदुस्तानी को हममानी और मुरादिफ़ क्यों ठहराया गया है। अफ़सोस है कि ऐसे मसले को जो सरासर अदबी और लसानी है गलत तौर से सयासी बनाया जा रहा है। जज़बात से खाली होकर वाकआत और दलायल पर गौर करना चाहिए और वह क़दम उठाना चाहिए जो हमारी ज़बान की हिफ़ाज़त और तरक्की का बाअस हो।"

हम इसे सैयद साहब का मजहबी जोश, हठधर्मी, द्वेष अथवा अज्ञान नहीं कह सकते। हम अच्छी तरह जानते हैं कि यह उनके दिल की तलछट और गहरे अध्ययन का निष्कर्ष है। पर हमारा निवेदन है कि सब कुछ सही, पर यह सही नहीं कि जनाब सैयद साहब को हिंदुस्तानी का ठीक ठीक पता है।

१—अलीगढ़ मैगज़ीन, जुलाई सन् १९३७ ई०, पृ० ८।

होता भी कैसे ? इधर हिंदुस्तानी के विषय में जो कुछ कहा जाता है, वह सचमुच भूल-भुलैया या धोखे की टट्टी है। उधर उर्दू में जो कुछ लिखा गया, वह भ्रामक और उद्दंडता-पूर्ण है। फिर किसी को सचाई का बोध हो तो कैसे।

सुनिए, बनारस के राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद क्या कहते हैं। वे तो 'नागरी' के प्रेमी और उदार हिंदू हैं। उनका साफ साफ कहना[1] है—

'जब यह ज़बान फ़ारसी हरफ़ों में लिखी जाती है बित्तखसीस उर्दू और हिंदुस्तानी कहाती है ताकि हिंदी ख्वाह भाखा कहने से देवनागरी हरफ़ों का शुबहः न हो, हिंदी का लफ़्ज देवनागरी ही में लिखी ज़बान से मखसूस किया गया है।"

तो क्या कांग्रेस के कर्णधारों अथवा महात्मा गांधी ने उसी हिंदुस्तानी की राष्ट्रभाषा के रूप में पैरवी की, जो फारसी लिपि में लिखी जाती अर्थात् उर्दू है ? कदापि नहीं। उसको तो उन्होंने उसी तरह मुसलमानों की ज़बान कह दिया है, जिस तरह सर सैयद अहमदखाँ बहादुर ने अपनी सचाई के समय में कह दिया था, पर बाद में राजनीति के चक्र के कारण उसे 'मुश्तरकः ज़बान' कहना शुरू कर दिया। सन् १८४७ ई० की बात है। उस समय देहली-दरबार जीवित था

१—उर्दू सर्फ व नहो, नवलकिशोर प्रेस कानपुर, सन् १८७५ ई०, पृ० २।

और सर सैयद अहमदखाँ कंपनी सरकार के युवक चाकर थे। उस समय उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'असारुस्सनादीद'[१] में लिखा—

"जो कि यह जबान खास बादशाही बाजारों में मुरव्वज थी इस वास्ते उसको जबान उर्दू कहा करते थे और बादशाही अमीर-उमरा इसी को बोला करते थे गोया कि हिंदुस्तान के मुसलमानों की यही जबान थी।"

'हिंदुस्तान के मुसलमानों' के बारे में उनकी राय[२] वही थी जो इसी पुस्तक में, 'राष्ट्रभाषा का निर्णय' शीर्षक में, पृष्ठ ६१ पर तीसरे प्रघट्टक में उद्धृत है।

कहने का साफ मतलब यह कि उर्दू इस मुल्क में बाहर से आनेवाले मुसलमानों अथवा उन्हीं के हमदर्द नव मुसलिमों की जबान है। 'मुश्तरकः जबान' तो वह तब बनी, जब देहली दरबार मिटकर खाक हो गया और जनता की ओर से हिंदी या हिंदुस्तानी की पैरवी आरंभ हुई। हिंदी की पैरवी का प्रभाव यह पड़ा कि उर्दू उन अदना कौमों की भी मातृभाषा बन गई, जो सदा हिंदुओं के साथ थे। इतना ही नहीं, सन् १८४७ ई० में सर सैयद[३] ने लिखा था—

१—प्रथम संस्करण, सन् १८४७ ई०, बाब चौथा, पृ० ९-१०

२—रूयदाद इजलास, मेडिकलहाल प्रेस बनारस, सन् १८७२, पृ० ४।

३—'असारुस्सनादीद' प्रथम संस्करण, पृ० १०, बाब चौथा।

"अगर च इस ज़बान (उर्दू) में अक्सर फ़ारसी और अरबी और संस्कृत के अल्फ़ाज़ मुस्तमल हैं और बाज़ बाज़ों में कुछ तग़ैयुर व तबदील कर ली है, लेकिन इस ज़मानः में और शहर के लोगों ने यह तरीक़ः एख़्तयार किया है कि उर्दू ज़बान में या तो फ़ारसी की लुग़ात बहुत मिला देते हैं या फ़ारसी की तरकीब पर लिखने लगते हैं। यह दोनों बातें अच्छी नहीं। इनमें उर्दूपन नहीं रहता।"

किंतु जब मुगलों का सितारा डूब गया और अँगरेज सच-मुच भारत के सम्राट् हो गए, तब सर सैयद को मुसलमानों की चिंता हुई, और धीरे धीरे उनको वह पाठ पढ़ाया कि फिर कभी उनको हिंदुस्तानी-हित की सुधि न हुई। उनकी देख-रेख में पले जीवों में मौलाना हाली का नाम अमर है। 'मुसद्दस हाली' को कौन नहीं जानता। वही 'हाली' हयात जावेद, याने सर सैयद की जीवनी में उसी उर्दू के विषय में एक जगह लिखते[1] हैं—

"उर्दू ज़बान जो दरहक़ीक़त हिंदी भाषा की एक तरक़्क़ी-याफ़्तः सूरत है और जिसमें अरबी-फ़ारसी के सिर्फ़ किसी क़दर अस्मा उससे ज़्यादह शामिल नहीं हैं जितना कि दाल में नमक होता है उसको हमारे हमवतन भाइयों ने सिर्फ़ इस बिना पर मिटाना चाहा कि उसकी तरक़्क़ी की बुनियाद मुसलमानों के अहद में पड़ी थी।"

१—हयात जावेद, प्रथम संस्करण, प्रथम भाग, पृ० २३९-४० ।

अब पाठक स्वयं विचार लें कि सत्य क्या है। सर सैयद और मौलाना हाली में कौन कितना साधु है और किसका कहना ठीक है। हम इस प्रसंग को अधिक बढ़ाना व्यर्थ समझते हैं। पर यहाँ इतना स्पष्ट निवेदन कर देना अपना धर्म समझते हैं कि देश तथा कांग्रेस ने कभी उक्त हिंदुस्तानी यानी उर्दू को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया, बल्कि उस हिंदुस्तानी को महत्त्व दिया, जो देश की भाषा यानी हिंदी हिंदुस्तानी है; वह हिंदुस्तानी है जो भाषाविदों की प्रचलित हिंदुस्तानी है और जिसके विषय में सर जार्ज ग्रियर्सन की[1] राय है कि वह हिंदी तथा उर्दू की मूल भाषा अर्थात् प्रकृति है। कंपनी सरकार ने इसी हिंदुस्तानी को अपनाया और उसका नाम भी 'हिंदी' या 'नागरी' ही रखा। कहीं भी उसके साथ 'फारसी अक्षर' की व्यवस्था या 'उर्दू जबान' की पैरवी नहीं की। करती भी कैसे ? उस समय उर्दू के हिमायती फारसी पर लट्टू थे और फारसी ही उस समय की शाही जबान थी। उनको 'उर्दू' की चिंता तो तब हुई, जब फारसी दफ्तर से बाहर हुई। लोग कहते हैं, अँगरेजों ने फारसी को दफ्तर से निकाल दिया। हमारा दावा है कि सरकार ने हिंदी यानी हिंदुस्तानी को दफ्तर से निकाल कर उसकी जगह हिंदी फारसी यानी उर्दू को बिठा दिया।

१—देखिए 'भाषा सर्वे' की भूमिका, प्रथमखंड अथवा नवाँ भाग, प्रथम खंड।

उर्दू का साफ मतलब है हिंदुस्तानी नहीं, बल्कि 'दरबार' या आला मुसलमानों की हिंदुस्तानी। हिंदुस्तानी का मतलब है हिंदुई या हिंदी। वह हिंदी, जिसमें फारसी और अरबी का असर छनकर आया हो अर्थात् जिसने फारसी और अरबी के शब्दों, भावों और मुहावरों को पचा लिया हो, जिसमें मुसलमानों की शाही शान छिपी हो, पर जो मदद के लिये हर पल और हर घड़ी फारस और अरब की दौड़ न लगाती हो, अथवा जो ऐसे विचित्र शब्दों की टकसाल न कायम करती हो, जो हिंद को छोड़ संसार में कहीं दिखाई न दें, अरब और फारस के कोश में भी न मिलें।

किंतु हिंदुस्तानी के समर्थकों की ओर से भरी मजलिस[1] में दावे के साथ कहा क्या जाता है, तनिक इसे भी ध्यान से सुनिए—

"यह समझना भी दुरुस्त नहीं कि इस तजवीज के पेश करनेवालों का यह मक़सद है कि हम अपनी ज़बान में कोई ऐसी तबदीली कर लें, जिससे वह हिंदी, या हिंदी के क़रीब बन जाए। हाशा व कला इस क़िस्म की कोई बात नहीं है, बल्कि ब.योन: उसी उर्दू, उसी जबान, उसी बोलचाल को जो हम बोलते हैं, हम 'हिंदोस्तानी' कहते हैं।"

१—आल इंडिया मुसलिम एजुकेशनल कानफरेंस में, जो १९३७ ई० में अलीगढ़ में हुई थी, यह तजवीज पेश की गई थी कि 'उर्दू' की जगह 'हिंदुस्तानी' नाम चालू किया जाय। यह लेख अलीगढ़ मैगजीन, जुलाई सन १९३७ ई०, पृ० १–११ में छपा है।

आप 'उसी उर्दू', उसी जबान, उसी बोलचाल को जो 'इम्त-याज़' के लिये देहली दरबार में 'ईजाद' की गई और शाही 'अमीर-उमरा' की जबान बन गई, हिंदोस्तानी' कहते हैं तो कहते रहें। आपको रोकता कौन है? पर कृपा कर हमें भी अपनी उस लोक या राष्ट्र-भाषा को हिंदुस्तानी कहने दें, जिसे आज सरकारी दुनिया इसी नाम से याद करती है। दुनिया क्यों? 'हिंदुस्तानी' नाम भी तो आप ही ने हमें दिया है।

हमारा कहना और दावे के साथ कहना यह है कि सचमुच हम में एकता तब तक स्थापित नहीं हो सकती, जब तक हम हिंदू-मुसलमान एक यानी सच्चे हिंदुस्तानी न हो जायँ। अब वह समय आ गया है कि हम अपने आचार-विचार से सर सैयद के उस इम्तयाज़ी दावे को ग़लत साबित कर दें कि[1] 'मुसलमान इस मुल्क के रहनेवाले नहीं हैं', अथवा[2] 'इँगलिश नेशन हमारे मफ़तूह मुल्क में आई' और दृढ़ता, वीरता तथा सचाई के साथ यह घोषित दें कि—[3]

"हम और हिंदू एक ही खाके-हिंद की पैदायिश हैं।"

१—रूयदाद इजलास (वही) पृ० ४।

२—हयातजावेद (वही) पृ० ५१ (दूसरा भाग) पर अवतरित।

३—ख़ुतबात आलियः, हिस्सः अव्वल, मुसलिम यूनीवर्सिटी प्रेस अलीगढ़, सन् १९२८ ई०, पृ० ५५ (सरदार मुहम्मद हयातखाँ का सन् १८६० ई० का व्याख्यान)।

मार्मिक दुःख तो यह देखकर होता है कि अभी उस दिन एक सज्जन ने अपने 'हिंदुस्तानी' होने का दावा[1] भी किया है, तो इस रूप में—

"हम पूछते हैं कि जब हम ख़ुद हिंदुस्तानी ही के नाम से मशहूर हैं तो फिर इसको अपनी जबान के लिये क्यों बुरा समझते हैं? जिस चीज को अपनी 'जात' के लिये पसंद करते हैं, उसे अपनी 'सिफ़त' के लिये क्यों नहीं पसंद करते?"

निवेदन है कि यही तो आपकी गुमराही है। आप 'हिंदुस्तानी ही के नाम से मशहूर' नहीं बल्कि सचमुच 'हिंदुस्तानी' ही हैं। यह तो बाहरी मुसलमानों की ग़ुलामी का असर है कि उन्हीं की देखा-देखी आप भी अपने को हिंदुस्तानी नहीं समझते और हिंदुस्तानी नाम से चिढ़ते हैं। नहीं तो वास्तव में आप भी हिंदी हैं, हिंदुस्तानी हैं। आपकी भाषा भी हिंदी है, हिंदुस्तानी है। 'उर्दू' तो उन लोगों की जबान है, जो आज भी अपने को 'तुर्क' समझते हैं और इसलाम को एक जत्थे के रूप में याद करते हैं। उस जत्थे के रूप में, जिसे भारत के ग़ारत होने का दुःख नहीं, बल्कि उसके लूटने-खसोटने का गर्व है। क्या इसलाम का सच्चा अर्थ यही है? यदि नहीं, तो आप बदगुमान हो उसे बदनाम क्यों करते हैं? क्या ही अच्छा हो, यदि आप हिंदी कवि[2] नूर मुहम्मद के इस कथन पर ध्यान दें—

१—अलीगढ़ मैगजीन, जुलाई सन् १९३७ ई०, पृ० ब।

२—सन् ११८७ हि० (१७७३ ई०) की रचना अनुराग-बाँसुरी की हस्तलिखित प्रति से।

"हिंदू मग पर पाँव न राख्यौं, काजौं बहुतै हिंदी भाख्यौं।"

अथवा किसी सूफी कवि की[1] इस दलील पर अमल करें—

"हिंदी पर ना मारो ताना, सभी बतावें हिंदी माना।
यह जो है कुरआन खुदा का, हिंदी करें बयान सदा का॥
लोगों को जब खोल बतावें, हिंदी में कह कर समझावें।
जिन लोगों में नबी जो आया, उनकी बोली में बतलाया॥"

आशा है, अब आप भी उसी हिंदी को अपनावेंगे जिसकी पैरवी अभी की गई है और जो सच्चे सूफियों को सदा से प्रिय रही है।

१—ओरियंटल कालेज मैगजीन, लाहौर, पृ० ४।

वली की 'हिंदी'

'वली' की हिंदी के प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि उनकी शायरी का ढंग विलायती था न कि देशी। दक्खिन में मुसलमानों की स्थिति बहुत कुछ विदेशी थी। 'दक्खिनी' को वे उसी प्रकार अपनी मातृभाषा समझते थे, जिस तरह फारसी को उत्तरी हिंद के मुसलमान। मतलब यह कि वली की शायरी के क़द्रदाँ मुसलमान ही थे न कि हिंदूमात्र। इसी लिये शायद वली ने बार-बार ईरान और तूरान का नाम लिया है और अपने को फारसी के कवियों के समकक्ष कहा भी है। निदान कहना यह पड़ता है कि वली के समय में दक्खिन में पढ़े-लिखे मुसलमानों की शिष्ट भाषा 'दक्खिनी' थी। 'दक्खिनी' को हम चाहें तो उनकी 'उर्दू' या 'शाही जबान' कह सकते हैं।

वली की इस शाही जबान में भाषा और संस्कृत के शब्दों की कमी नहीं है। देखिए तो सही, वली का शब्द-कोश कैसा है—

मुझ घट में ऐ निघरघट है शौक़ तुझ घूँघट का।
देखैं सें लट गया दिल तेरी ज़ुल्फ़ का लटका॥
कर याद तुझ कपट कें पड़ते हैं अश्क टपटप।
मुख बात बोलता हूँ शिकवः तेरी कपट का॥
तुझ नैन देखने को दिल ढाठ कर चुका था।
ग़मज़े के देख ठट कें नाचार होके ठटका॥

तुझ ख़त के बिन तवजः खुलना है इसका मुश्किल।
हलके में तुझ जुलफ़ के जो जीव जाके अटका॥
हरगिज़ 'वली' किसी किन शाकी तेरा न होता।
गर तुझमें ए हठीले होता न तौर हठ का॥

—कुल्लियात नं० २५

नसरती, वली आदि 'दक्खिनी' के प्राचीन कवियों के अध्ययन से कुछ यह भी स्पष्ट होता है कि आरंभ तो प्रायः वे हिंदी शब्दों से करते हैं, पर विवशता के कारण आगे चलकर अहिंदी 'बोली' को अपना लेते हैं। जब व्यवहृत बोलचाल से काम नहीं चलता तब अर्जित 'बोलों' से काम लेते हैं। विचार करने के लिये वली के ही कुछ पदों को लीजिए—

तुझ मुख की झलक देख गई जोत चंद्र सों।
तुझ मुख प अर्क़ देख गई आब गहर सों॥

× × × ×

अँखियाँ सों हुआ पीव जुदा जब संती मेरी।
जाते हैं मेरे अश्क गया पीव जिधर सों॥

× × × ×

जी चल विचल हुआ है चंचल तेरी चाल देख।
दिल जा पड़ा ख़लल में तेरे मुख का ख़ाल देख॥

प्रसंग को बढ़ाने से कुछ लाभ नहीं दिखाई देता। सच्चे समझदारों के लिये इतना निर्देश यथेष्ट है। अब कुछ वली के भीतरी भावों पर भी विचार कीजिए और देखिए कि उनमें कितनी हिंदियत है। उनका एक पद है—

मत गुस्से के शोले सों जलते को जलाती जा।
टुक मेहर के पानी सों यह आग बुझाती जा॥
तुझ चाल की क़ीमत सों नहीं दिल है मेरा वाक़िफ़।
ऐ नाज़भरी चंचल टुक भाव बताती जा॥
इस रैन अँधेरी में मत भूल पड़ूँ तिस सों।
टुक पाँव के बिछुवों की आवाज़ सुनाती जा॥
मुझ दिल के कबूतर को पकड़ा है तेरी लट ने।
यह काम धरम का है टुक इसको छुड़ाती जा॥
तुझ मुख की परस्तिश में गई उम्र मेरी सारी।
ऐ बुत की पूजनहारी इस बुत को पुजाती जा॥
तुझ इश्क़ में जल जलकर सब तन को किया काजल।
यह रोशनी अफ़ज़ा है अँखियन को लगाती जा॥
तुझ इश्क़ में दिल चलकर जोगी की लिया सूरत।
एकबार अरे मोहन छाती सों लगाती जा॥
तुझ घर की तरफ़ सुंदर आता है 'वली' दायम।
मुश्ताक़ है दर्शन का टुक दरस दिखाती जा॥

—कुल्लियात नं० ४४

कहने की आवश्यकता नहीं कि वली की नायिका सर्वथा हिंदी है। फारसी या उर्दूवालों की तरह 'अमरद' नहीं। यह तो आलंबन की बात हुई। आश्रय भी नायिका दिखाई दे जाती है। टुक देखिए तो सही—

तेरे आने की बाट ऊपर बिछाया हूँ अँखाँ अपनी।
तू वेगी आ कि तुझ बिन मुझको यह घरबार करना क्या॥

तुम्हीं मिलने सों गर अपने सुहागिन ना करोगे मुझ।
तो जोड़ा गलगरी का और करीलाधार करना क्या॥
जो कोई जाले पिरित की आग में तनमन को यों अपने।
'वली' संगम बिना ऐसे कों फिर आधार करना क्या॥

—कुल्लियात ७८

अप्रस्तुत विधान अथवा अलंकारों की योजना में भी वली ने अपने हिंदीपन का पूरा परिचय दिया है। देखिए 'मुख के तिल' के विषय में कहते हैं—

नयन देवल में पुतली है व या काबा में है असवद।
हिरन का है या नाफ़ः या कँवल भीतर भँवर दिसता॥

काबा के सामने आ जाने से नमाज भी जरूरी है। नमाज में भी हिंदी लफ्जों की पाबंदी देखिए और गौर कीजिए कि दीन का जबान से क्या संबंध है। वली फरमाते हैं—

य मुख तेरा है ज्यों मसजिद भवाँ है ज्यों मेहराब।
अँखों सों जाके मैं वहाँ इश्क़ की नमाज़ किया॥

पाठक विस्मृत न हों, वली के यहाँ कबीर का 'मन का मनका' भी है—

याद करने कों लिया हाथ में मन का मनका।
दिल ऊपर बोझ पड़ी मनका फिरना मुश्किल॥

वली राजपूतों की बहादुरी के कायल हैं। लड़नेवाली आँखों के लिये फरमाते हैं—

दिसे काजल सों तुझ अँखियाँ की यों धज।
कि बरछी कों पकड़ निकला है रजपूत॥

ब्राह्मणों को भी आँख से ओझल नहीं किया है, बल्कि बार-बार उनकी खबर ली है। ब्राह्मण के स्वाध्याय का प्रभाव कितना गहरा हो गया है। वली कहते हैं—

रात दिन अँछुवाँ में अपने शास्तर करता है तर
ऐ बरहमन देख तुझकों बेदख़्वाँ मजनूँ हुआ।

वली की दृष्टि ब्राह्मण के चंदन पर भी पड़ी है—

बँधा है ऐ सनम जो दिल तेरे माथे के संदल पर
अजब नहीं है अगर साये सों उसके बरहमन निकले।

जनेऊ का हाल भी देख लीजिए—

बरहमन तुझ मुख कों देखा पास हिंदू ज़ुल्फ़ के
ज़ुल्फ़ के ताराँ जनेऊ करके समझा बरहमन।

वली ने हिंदू-शब्द का प्रयोग यहाँ काले के अर्थ में किया है। हिंदू-शब्द के दोनों अर्थों को एक ही जगह देखना हो तो वली का यह शेर पढ़ें—

हिंदू सूरज कों दूर सों नित पूजते बले।
हिंदू-ए-ज़ुल्फ़ की है बग़ल भीतर आफ़ताब।

वली को देश के प्राचीन वीरों के गुणगान में मजा आता था। वे हिंद में एक अजनबी की तरह रहने का दम नहीं भर सकते थे। उनके यहाँ राम, लक्ष्मण, कृष्ण, अर्जुन की कथा तो प्रचलित ही थी, वासुकि और यम भी उनकी जानकारी के भीतर थे। सबसे पहले तनिक राम शब्द के प्रयोग पर ध्यान दीजिए—

गर च लछमन तेरा है राम वले, ए सजन तू किसी का राम नहीं।

तथा

क्या वफ़ादार हैं कि मिलने में, दिल सों सब राम राम करते हैं।

वन वन में फिरते कृष्ण की भी एक झाँकी ले लीजिए—

तेरे बिन रात दिन फिरता हूँ बन-बन किशन के मानिंद
अपस के मुख उपर रख कर निगह की बाँसुली अँखियाँ।

कृष्ण की वंशी के साथ ही साथ अर्जुन के बाण का भी ध्यान कीजिए—

जोधा जगत के क्यों न डरें तुझसों ऐ सनम!
तरकश में तुझ नयन के हैं अर्जुन के बान आज।

कृष्ण या अर्जुन का गुण-गान करना बहुत कुछ सामान्य है, पर बासुकि को पाताल से बुला लाना एक खास अदब की बात है। गौर कीजिए, वली किस हिंदी ढंग से बासुकि को उठाकर चलाते हैं—

वली तुझ ज़ुल्फ़ की गर सेहसाज़ी का बयाँ बोले
चले पाताल सों बासुकि सो पेच वो ताब सों उठकर।

यही नहीं, वली ने हिंदी राजा-प्रजा के संबंध को भी दिखा दिया है और इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि राजा उपज का कितना भाग लेता था। उनका कहना है—

तन के मुल्क में ए 'वली' तुझ इश्क़ के हाकिम ने आ
दिल की रैय्यत सों छटा लेकर चुकाया दाम दाम।

वली के इस कथन के महत्त्व को समझने के लिये भगवान् मनु का यह निर्देश कितना सटीक है—

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ ७-१३१ ।

हिंदी पर्वों और उत्सवों से वली को कितना डंस था, तनिक इसे भी देख लें—

तेरे ज़ुल्फ़ों के हलक़े में दिसे यों नक़्श रुख़ रोशन ।
कि जैसे हिंद के भीतर लगें दीवे दिवाली में ॥

तीर्थ-स्थानों की महिमा पर भी ध्यान दीजिए और टुक गौर कीजिए कि वली किस तरह उन्हें याद करते हैं—

कूच-ए-यार ऐन कासी है, जोगी दिल वहाँ का बासी है ।
पी के बैराग की उदासी सों, दिल भी बैरागी व उदासी है ॥
ऐ सनम तुझ जबीं ऊपर यह ख़ाल हिंदू-ए हरद्वार-बासी है ।
ज़ुल्फ़ तेरी है मौज जमना की पास तिल उसके ज्यों संन्यासी है ॥

कहाँ तक कहें ? वली हिंद पर इतने लट्टू हैं कि—

'वली' तेरी गली कों देख बोला
यही है हिंद और कश्मीर व काबुल ।

यह है उर्दू के बाबा आदम कहे जानेवाले जनाब वली की हिंदी-लगन और यह है 'कुल्लियात वली' के संपादक जनाब अहसन साहब[1] मारहरवी की हिंदी की जानकारी—

१—जनाब अहसन साहब मारहरवी वली के उद्धारक और उर्दू के प्रकांड पंडित गिने जाते हैं । 'कुल्लियात वली' का प्रकाशन सन् १६२७ ईसवी में मौलाना और अब डाक्टर अब्दुल हक साहब जैसे 'मुल्की ज़बान' की हिमायती हस्ती के हाथ हुआ है । वही डाक्टर

आन—अवाम देहाती अब भी जान के माने में बोलते हैं।

—कुल्लियात पृ० ह

अर्जुन—एक क़दीम पहलवान जो बड़ा तीरंदाज़ था।

—कुल्लियात पृ० द

तपती या तवती—शहर सूरत में एक दरिया है।

—कुल्लियात पृ० त

रसोई—हनूद की ज़बान में खाने को कहते हैं।

—कुल्लियात पृ० म

कासी—काशी (शहर इलाहाबाद)। —कुल्लियात पृ० फ

बस। इससे आगे कुछ और उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। अभी इतने से ही संतोष कीजिए और इसको देखकर यह बता दीजिए कि आज जो हमारी मातृभाषा कही जाती है और हिंदू-मुसलिम एकता की एकमात्र निशानी समझी जाती है उसके आचार्य वली हमारे देश, हमारी परंपरा और हमारी भूमि से कितने परिचित हैं और किस रूप में कहाँ तक हमारी बातों का सत्कार करते हैं।

विचार करने की बात है कि वली की इस हिंदी-प्रवृत्ति में भयंकर परिवर्तन करनेवाले कौन से कारण थे, जिन्होंने उन्हें 'रेख़ते' से हटाकर 'उर्दू का बाबा आदम' बना दिया और जनाब अहसन साहब मारहरवी से काशी को 'इलाहाबाद' लिखा दिया। कारण प्रत्यक्ष है। उनका मत है—

इक साहब जो आज 'हिंदोस्तानी' (उर्दू) के लिये प्राणपण से तुले हुए हैं और अंजुमन-तरक्की-उर्दू-हिंद के सर्वेसर्वा हैं।

ऊपर-ऊपर का मुख़फ़्फ़फ़, पर वर का तर्जुमः।

—कुल्लियात पृ० ८ ज

स्पष्ट है कि जनाव अहसन साहव ने 'फ़ारसी' को मूल भाषा बना दिया और मूल भाषा संस्कृत की भरपूर उपेक्षा की। इस उपेक्षा अथवा अहिंदी-प्रवृत्ति का इतिहास बहुत ही शिक्षाप्रद तथा रोचक है। उस पर विचार करने का समय नहीं। हाँ, इतना भर जान लीजिए कि एक बार वली औरंगाबाद (दकन) से चलकर दिल्ली[1] पहुँचे। उस समय दिल्ली में फारसी का ह्रास हो रहा था और भाषा बढ़ रही थी। दिल्ली के शाह शाद उल्लाह गुलशन को यह बात खली। वली के फारसी तर्ज को तो उन्होंने पसंद किया, पर उसका हिंदीपन उन्हें न रुचा। चट उन्होंने वली से कहा—

"ईं हमः मज़ामीन फ़ारसी कि वेकार उफ़्तादह अंद दर रेखतः बकार बबर। अज़ तू कि मुहासिवः ख़्वाहिद गिरफ़्।"

"यह इतने सारे फ़ारसी के मज़मून जो बेकार पड़े हुए हैं उनको अपने रेखते में इस्तमाल कर। कौन तुझसे जायज़ः (हिसाब) लेगा।" (उर्दू रिसाला पृ० १७९ अप्रैल सन् १९३२ ई०)

शाह साहव की बात जादू का काम कर गई। वली फारसी को हिंदी कालिव में ढालने लगे। निदान उनकी शायरी का रंग यह हो गया—

१—'क़ायम' के कथनानुसार वली सन् ११९२ हि० (सन् १७०० ई०) में दिल्ली आए और 'हातिम' के कथनानुसार सन् ११३२ हि० (सन् १७२० ई०) में उनका दीवान पहुँचा।

जब सनम को ख़याल बाग़ हुआ,
तालिब नशः-ए फ़राग़ हुआ।
फ़ौज उश्शाक़ देख हर जानिब,
नाज़नीं साहबे दिमाग़ हुआ॥
रश्क सों तुझ लबाँ की सुरख़ी के,
जिगर लालः दाग़ दाग़ हुआ।
दिले उश्शाक़ क्यों न हो रोशन,
जब ख़याले सनम चिराग़ हुआ।
ऐ 'वली' गुलबदन कों बाग़ में देख.
दिल सद बर्ग बाग़ बाग़ हुआ॥

—कुल्लियात नं० ५८

शाह हातिम ने वली को अपना उस्ताद मान लिया और फारसी तथा अरबी के आधार पर 'दरबार' की शाही जबान को, जो उस समय बोलचाल में थी, पकड़ लिया। उसमें से भाषा तथा हिंदीपन को दूर किया। जो बचा उस पर फारसी-अरबी का मुलम्मा चढ़ाया और उसका नाम यथार्थ ही 'उर्दू की जबान' रक्खा, जो आरंभ में 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के पाक नाम से चलती रही और फिर घिस घिसा कर 'उर्दू' रह गई। हातिम उर्दू के आदि आचार्य तो हुए, पर वे 'उर्दू के बाबा आदम' न कहला सके। यह उपाधि वली (औरंगाबादी) को ही मिली। वही आज उर्दू के बाबा आदम माने जाते हैं। उन्हीं के प्रयत्न से उनकी 'रेख़ता' हिंदी से फारसी बन चली और बन-सँवर कर 'उर्दू' के रूप में देश में प्रतिष्ठित हुई।

उर्दू की उत्पत्ति

नीति, प्रमाद अथवा भ्रमवश 'उर्दू' के व्यवहार को जो व्यापक रूप दिया जा रहा है उससे सत्य के क्षेत्र में कैसी धाँधली मची है, तनिक इसे भी देख लें। शाह अब्दुल कादिर ने क़ुरान शरीफ का एक अनुवाद किया और उसकी भाषा के संबंध में लिखा—

"अब कई बातें मालूम रखिए। अव्वल यह कि इस जगह तरजुमा लफ़्ज़बलफ़्ज़ ज़रूर नहीं, क्योंकि तरकीब हिंदी तरकीब अरबी से बहुत बईद है। अगर बईना वह तरकीब रहे तो माने मफ़हूम न हों। दूसरे यह कि इसमें ज़बान रेख़ता नहीं बोली बल्कि हिंदी मुतारफ़ ता अवाम को बेतकल्लुफ़ दरियाफ़्त हो।"

शाह साहब के इस कथन पर मौलाना अब्दुल हक ने[1] ध्यान दिया और कहा—

"शाह साहब ने यहाँ रेख़ते और हिंदी मुतारफ़ में जो फ़र्क़ किया है वह क़ाबिल ग़ौर है। हिंदी मुतारफ़ से वही ज़बान मुराद है जिसे आजकल हिंदुस्तानी से ताबीर किया जाता है। इस तरजुमे के देखने से मालूम होगा कि हिंदुस्तानी ज़बान किसे कहते हैं।"

१—उर्दू (अंजुमन तरक्की उर्दू की त्रैमासिक पत्रिका, औरंगाबाद, दकन) जनवरी सन् १९३७ ई०, पृ० १७।

प्रत्यक्ष है कि मौलाना हक ने 'रेख़ता' को छोड़ दिया और केवल 'हिंदी मुतारफ़' की व्याख्या की। 'हिंदी मुतारफ़' का मतलब यदि हिंदुस्तानी है तो 'रेख़ता' का अर्थ उससे भिन्न होगा। यदि रेख़ता का तात्पर्य उर्दू है तो कुरान शरीफ का यह अनुवाद 'उर्दू ज़बान' का नहीं कहा जा सकता। परंतु मौलाना ने इसको 'उर्दू ज़बान' का तरजुमा कहा है और उसके लिये 'ठेठ उर्दू' का प्रयोग किया है। लंदन के डाक्टर बेली ने[१] भी शाह साहब के इस कथन का अवतरण दिया है और 'रेख़ता' की व्याख्या न कर 'हिंदी' को 'उर्दू' बना दिया है—

"I have not used Rekhta in my translation, but well-known Urdu that ordinary people might easily understand it."

डाक्टर साहब 'रेख़ता' का अर्थ क्या समझते हैं, यह जान लेना कठिन नहीं। उन्होंने इस शब्द की अनेक निरुक्तियों का उल्लेख किया है और मीर के प्रसिद्ध शेर "मजबूत कैसे कैसे कहे रेख़ते चले, समझा न कोई 'मेरी[२]' ज़बाँ इस दियार में"। का अर्थ[३] किया है—

१—J. R. A. S. 1930. p. 398.

२—मीर साहब का दावा था कि उनकी ज़बान वही समझ सकता है जो 'उर्दू का धनी' या जामा-मसजिद की सीढ़ियों का रोड़ा हो। इसका मुख्य कारण कदाचित् यह था कि उनकी भाषा में वहाँ के जीते-जागते मुहावरे रहते थे जो लखनऊ को नसीब न थे।

३—J. R. A. S. 1930. p. 398.

"What fine Urdu verse I have Written, but no one in these parts understands me."

कहने का तात्पर्य यह कि मौलाना हक तथा डाक्टर बेली दोनों ही महाशय इस रेखता और हिंदी मुतारफ की गुत्थी को सुलझाने में असमर्थ रहे हैं और 'उर्दू' शब्द की माया में फँस गए। रेखता और उर्दू को सामान्यतः एक ही ख्याल किया जाता है। पर दोनों के प्रयोग तथा स्वरूप में कुछ भेद है। हम उर्दू को चाहें तो रेखता कह सकते हैं। पर रेखता को उर्दू कहना प्रमाद, भ्रम या अज्ञान होगा, ज्ञान कदापि नहीं। 'हिंदी' का प्रयोग फारसी-अरबी के मुकाबिले में रेखता और उर्दू के लिये भी होता रहा है, पर अब इस अर्थ में यह अधिक चालू नहीं है। फिर भी जहाँ कहीं 'रेखता' या 'उर्दू' से विभेद दिखाने के लिये इसका प्रयोग किया गया है वहाँ इसका अर्थ 'रेखता' या 'उर्दू' नहीं किया जा सकता, 'हिंदुस्तानी' करने में आपत्ति नहीं। हिंदुस्तानी वस्तुतः हिंदी का पर्याय है और आज बोलचाल या व्यवहार की हिंदी के लिये प्रायः प्रयुक्त भी होता है। यह हिंदुस्तानी खालिस (खड़ी, ठेठ) और मुसलमानी से भिन्न एक दूसरी चीज है जिसमें दोनों का समन्वय है जो किताब की नहीं, लेन-देन या व्यवहार की भाषा है। इसकी जगह उर्दू को बिठा देना नादानी है, न्याय नहीं।

हाँ, तो कहना यह था कि प्राचीन ग्रंथों पर विचार करते समय इस बात पर बराबर ध्यान रखना चाहिए कि भाषा के लिये उसमें कौन-सा शब्द प्रयुक्त है, रेखता, उर्दू, हिंदी अथवा

अन्य कोई पर्यायवाची या स्वतंत्र शब्द। ऐसा न करने से समीक्षा और सत्य के राज्य में बड़ी धांधली होगी और सन्नद्ध खोजक भूल-भुलैया में फँसकर व्यर्थ में सर मारेंगे। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। शाह साहब की तरह एक दूसरे सज्जन मौलवी मुहम्मद बाकर[1] आगाह हैं जिन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"और इन सब रिसालों में शायरी नहीं किया हूँ बल्कि साफ़ और सादा कहा हूँ और उर्दू के भाके में नहीं कहा क्या वास्ते कि रहनेवाले यहाँ के (दक्षिणी) इस भाके से वाक़िफ़ नहीं हैं। ऐ भाई यह रिसाले दक्खिनी ज़बान में हैं।"

साफ है कि आगाह ने भी उसी तरह 'उर्दू की भाका' और 'दक्खिनी ज़बान' में भेद किया है जिस तरह शाह साहब ने 'रेख़ता' और 'हिंदी मुतारफ़' में। किंतु उनके भी समीक्षक ने उनकी पुकार की उपेक्षा कर उनकी ज़बान को 'उर्दू' बना ही दिया और किस तपाक के साथ[2] लिख दिया—

"यह सबसे पहले मुसन्निफ़ हैं जिन्होंने 'उर्दू ज़बान' में सैर, अक़ायद, फ़िक़ा की मुतद्दद किताबें तसनीफ़ कीं जैसा कि ख़ुद आगाह ने लिखा है।"

आगाह ने उर्दू या उर्दू भाका न लिखकर उर्दू की भाका लिखा और दक्खिनी के साथ 'की' का प्रयोग न कर केवल 'ज़बान' का प्रयोग किया। तो क्या 'उर्दू की भाका' और उर्दू

१—'दकन में उर्दू' सन् १९२६ ई०, पृ० ७१।

२—वही, सन् १९२६ ई०, पृ० ६९।

जवान में कुछ भेद है? उर्दू जवान और उर्दू की जवान एक ही चीज नहीं है? निवेदन है कदापि नहीं। दोनों में बड़ा अंतर है। गवाही के लिये डाक्टर बेली[1] के इस कथन पर ध्यान दीजिए—

"We must make a sharp distinction between Urdu, used by itself as a proper name, and Zābani Urdu, for we cannot be sure that Zabani Urdu is a name; it may be a mere description, 'the language of the army.'"

और मौलाना सैयद सुलैमान नदवी[2] का यह निष्कर्ष नोट कर लीजिए—

"चुनांचः लफ्ज 'उर्दू' ज़बान के मानी में, देहली के अलावा किसी सूबा की ज़बान पर इतलाक नहीं पाया है। मीर तक़ी मीर की तहरीरी सनद में जब उसका नाम पहली दफ़ा आया है तो देहली की ज़बान के लिये आया है, मगर फिर भी वह इस्तेलाह के तौर पर नहीं, बल्कि लुग़त के तौर पर आया है; यानी मीर ने 'उर्दू ज़बान' नहीं कहा, बल्कि 'उर्दू की ज़बान' कहा है—

'रेख़ता कि शेरेस्त बतौर शेरे फ़ारसी बज़बाने उर्दूएमुअल्ला बादशाहे हिंदोस्तान'।

१—J. R. A. S. 1930 p. 393.

२—द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ, ना० प्र० सभा, पृ० ४०६।

अर्थात् 'बादशाह हिंदोस्तान के कैंप या पायः त.ख्त की ज़बान'।

ऊपर के अवतरणों से इतना तो स्पष्ट हो गया कि 'उर्दू ज़बान' 'उर्दू की जबान' से भिन्न है। उसका वाचक नहीं, उससे न्यारी है। अब देखना यह चाहिए कि 'उर्दू की ज़बान' का इतिहास क्या है। मीर अमन[१] देहलवी का विश्वविख्यात कथन लीजिए—

"हक़ीक़त उर्दू की ज़बान की बु.ज़ुर्गों के मुँह से यों सुनी है कि दिल्ली शहर हिंदुओं के नज़दीक चौजुगी है। उन्हीं के राजा-प्रजा क़दीम से वहाँ रहते थे और अपनी भाखा बोलते थे। हज़ार बरस से मुसलमानों का अमल हुआ। सुल्तान महमूद ग़ज़नवी आया। फिर ग़ोरी और लोदी बादशाह हुए। इस आमदरफ़्त के बाइस कुछ ज़बानों ने हिंदू-मुसलमानों की आमेज़िश पाई। आख़िर अमीर तैमूर ने, जिनके घराने में अब तक नामनिहाद सल्तनत का चला जाता है, हिंदोस्तान को लिया। उनके आने और रहने से लश्कर का बाज़ार शहर में दाख़िल हुआ। इस वास्ते शहर का बाज़ार उर्दू कहलाया।......जब अकबर बादशाह त.ख्त पर बैठे तब चारों तरफ़ के मुल्कों से सब क़ौम क़दरदानी और फ़ैज़रसानी इस ख़ांदान लासानी की सुनकर हु.जूर में आकर जमा हुए। लेकिन हर एक की गोयाई और बोली जुदा जुदा थी। इकट्ठे होने से

१—बाग़ोबहार भूमिका, पृ० ४ (न० कि० प्रेस)।

आपस में लेन-देन, सौदासुल्फ़, सवाल-जवाब करते-करते एक ज़बान उर्दू की मुक़र्रर हुई। जब हज़रत शाहजहाँ साहबे .केरान क़िला मुबारक और जामा मसजिद और शहरपनाह तामीर फ़रमाया......तब बादशाह ने .खुश होकर जश्न फ़रमाया और शहर को अपना दारुल्खिलाफ़त बनाया। तब से शाह-जहानाबाद मशहूर हुआ।...और वहाँ के शहर को उर्दूएमुअल्ला खिताब दिया। अमीर तैमूर के अहद से मुहम्मदशाह की बादशाहत तक, बल्कि अहमदशाह और आलमगीर सानी के वक्त तक, पीढ़ी व पीढ़ी सल्तनत एकसाँ चली आई। निदान ज़बान उर्दू की मँजते मँजते ऐसी मँजी कि किसी शहर की बोली उससे टक्कर नहीं खाती।"

मीर अमन की इस 'हक़ीक़त' पर बहस करने की जरूरत नहीं। यह उनकी खोज नहीं, बुजुर्गों की कहानी है। इसका मतलब इतना जान लीजिए कि उस समय 'उर्दू की ज़बान' की रामकहानी क्या थी और किस रूप में देहली के लोग उसे समझते थे। हम जिस बात पर जोर देना चाहते हैं वह कहानी नहीं 'उर्दू की ज़बान' का प्रयोग है। 'उर्दू की ज़बान' 'उर्दू ज़बान' से जुदा है या नहीं? यदि अलग है तो मीर अमन का यह कथन 'उर्दू' की हकीकत पर नहीं लागू हो सकता। उसकी असलियत का पता लगाना चाहिए। सुनिए सैयद इंशा[१] अल्लाह क्या कहते हैं।

१—दरिया-ए-लताफ़त, अंजुमन तरक्की उर्दू, सन् १९१६ ई० आरंभ पृ० १, २।

"हरचंद कि लाहौर व मुल्तान व अकबराबाद व इलाहाबाद हम मस्कन बादशाहान साहब क़ुदरत व शौक़त बूद: व इमारत बलंद सर बफ़लक रसानीद: दरीं शहर हा मौजूद अस्त लेकिन बराबर नमी तवाँ गुफ़्त। जेराकि दरीं जा सलातीन आली मक़ाम ज़्याद: अज जाहाय दीगर तशरीफ़ दाश्त: अंद। ख़ुशबयानान आँजा मुत्तफ़िक़ शुद: अज जबानहाय मुतअद्दिद अल्फ़ाज़ दिलचस्प जुदा नमूद: व दर बाज़े इबारात व अल्फ़ाज़ तसर्रुफ़ बकारबुर्द: ज़बाने ताज: सिवाय जबानहाय दीगर बहम रसानीदंद व बउर्दू मौसूम साख़तंद।"

देखा आपने, सैयद इंशा साफ साफ कहते हैं कि लाहौर, मुल्तान, आगरा, इलाहाबाद की वह प्रतिष्ठा नहीं है जो शाहजहानाबाद या दिल्ली की है। इसी शाहजहानाबाद में उर्दू का जन्म हुआ है, कुछ मुल्तान, लाहौर या आगरा में नहीं। उर्दू की जन्म-कथा यह है—

"शाहजहानाबाद में ख़ुशबयान लोगों ने एकमत होकर अन्य अनेक भाषाओं से दिलचस्प शब्दों को जुदा किया और कुछ शब्दों तथा वाक्यों में हेर-फेर करके दूसरी भाषाओं से भिन्न एक अलग नई भाषा ईजाद की और उसका नाम उर्दू रख दिया।"

इंशा के इस कथन पर विचार करना चाहिए और यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि उर्दू की उत्पत्ति के लिये लाहौर, मुल्तान या सिंध जाने की जरूरत नहीं; दिल्ली की खाक छानने की फ़ुरसत होनी चाहिए। इंशा के 'ख़ुशबयानान' को लीजिए और ध्यान से देखिए कि इसमें कौन से लोग शामिल हैं। हिंदू लोगों को भी

कभी कभी अपने कलाम पर नाज होता है और कभी कभी कोई साहब इस ताज: 'जबान' को अपनी 'मादरी जबान' भी कह जाते हैं। उनका गुमान होगा कि उनके भी बाप-दादे 'खुशबयान' गिने गए होंगे। पर सैयद इंशा का[1] साफ फतवा है—

"बुद्धिमानों से यह बात छिपी नहीं है कि हिंदुओं ने बोल-चाल, चालढाल, खाना और पहनना इन सब बातों का सलीका मुसलमानों से सीखा है।"

पाठक हैरान न हों। यह इंशा का निजी ख्याल नहीं है। अभी उस दिन मुसलिम संस्कृति के एक उदार तथा प्रकांड पंडित[2] ने कहा है—

"खाना किस मुल्क में पकाया और नहीं खाया जाता, मगर हिंदोस्तान की क़नाअतपसंद तबीयत मिट्टी की हाँडियों और केले के पत्तों से आगे नहीं[3] बढ़ी।......मुसलमानों ने जब यहाँ

१—"बर साहेब तमीज़ान पोशीदा नेस्त कि हिंदुआन सलीक़ा दर रफ़्तार व गुफ़्तार व खोराक व पोशाक अज़ मुसलमानान याद गिरफ़्ता अन्द।" (दरिया-ए-लताफत, वही, दुरदान-ए-दोम पृ० ६)।

२—अलीगढ़ मैगजीन, अलीगढ़, अक्टूबर सन् १६३३ ई० पृ० ७।

३—शब्दों में राष्ट्र का सच्चा इतिहास छिपा होता है। उनके जीते जी राष्ट्र मर नहीं सकता। यही कारण है कि विजित जातियों के शब्दों तथा भाषाओं के मारने की पूरी पूरी चेष्टा की जाती है और उन पर अपनी निजी भाषा की छाप लगाई जाती है। इससे नीतिकारों को सफलता तो मिल जाती है पर सत्यनिष्ठों का सर्वस्व छिन जाता है।

क़दम रखा तो अपने पूरे तमद्दुन व मुआशिरत, साज़ वो सामान और अपनी इस्तलाहात वो ईजादात को लेकर यहाँ वारिद हुए और इन सबके लिये नाम वो इस्तलाहात वो अल्फ़ाज़ भी अपने साथ लाए। और चूँकि यह हिंदोस्तान में बिलकुल नई चीजें थीं इसलिये हिंदोस्तान की बोलियों में इनके मरादफ़ात की तलाश बेकार थी, और वही अल्फ़ाज़ हिंदुस्तान में रायज हो गए।"

हम उन चीजों के ब्योरे में समय बिताना व्यर्थ समझते हैं। केवल इतना निवेदन कर देना चाहते हैं कि हम आज भी वही गिने जाते हैं जो सैयद इंशा के जमाने में गिने जाते थे। अतः किसी बात में भी हमारा विश्वास नहीं किया जा सकता। 'उर्दू' तो एक अनोखी चीज है और 'यारों' को भी 'आते आते' आती है। तभी तो दाग चेतावनी देते हैं—

घोर अंधकार में उनकी प्रतिभा ठोकरें खाती और भ्रमजाल में फँसकर कलपती रह जाती है। ठीक यही दशा इस दावे में है। माना कि देग, देगची, प्यालः और बावरची मुसलमानों के साथ आए। पर बटलोई, बटुला, कटोरा, लोटा और हंडा का टवर्ग कहाँ से आया? अरबी, फारसी या तुर्की से? करें क्या, सूपक या सूपकार (सुआर) भी तो बहुत पुराना है। 'मिट्टी से आगे', कहाँ तक आगे बढ़ी थी इसके लिये यह श्लोक पर्याप्त है। इसमें शुद्धि का भी विधान है—

अंभसा हेमरौप्यायःकांस्यं शुद्ध्यति भस्मना।
अम्लैस्ताम्रं च रैत्यं च पुनःपाकेन मृण्मयम्॥

"नहीं खेल है दाग़ यारों से कह दो ;
कि आती है उर्दू ज़बाँ आते आते।"

हाँ, तो सैयद इंशा[1] का फतवा है—

"किसी भी बात में इनका क़ौल-फ़ेल ऐतबार के क़ाबिल नहीं है।"

किनका ? उन्हीं हिंदुओं का जिनकी यह जबान साबित की जा रही है; और सात समुद्र पार से इसके लिये मसाला जुटाया जा रहा है। खैर, देखते रहिए। समय का फेर है। सैयद इंशा[2] ने मेहरबानी करके इतना बता दिया है कि—

"मुस्तनद और सही उर्दू उसी की मानी जायगी जो 'नजीब (कुलीन)' होगा। जिसके मा-बाप दोनों दिल्ली के बाशिंदे हों, उसी का शुमार फ़सीहों में होगा।"

यदि इतनी ही क़ैद होती तो भी गनीमत थी। बहुत से 'नजीब' निकल आते। पर सैयद इंशा[3] तो साफ साफ कह देते हैं कि उर्दू मुसलमानों की चीज है।

मतलब यह कि जो 'ताजः ज़बान' रची गई उसके धनी हम-आप हो नहीं सकते। याद रहे, खुद इंशा भी न हो सके।

१—दर हेच मक़ाम क़ौल व फ़ेल ईं हा मनात एतबार नमी तवानद शुद"। (दरिया-ए-लताफ़त, वही, पृ० ६।)

२—"लेकिन असलश शर्त अस्त कि नजीब बाशद यानी पिदर व मादरश अज़ देहली बाशद दाख़िल फ़ुसहाय गश्त" (वही, पृ० ६६)

३—"मुहावरा उर्दू इबारत अज़ मोयाइये अहल इसलाम अस्त।" (वही, पृ० १५)

कारण ? क्या आप नहीं जानते कि कभी कभी वे 'हिंदवी छुट' और 'भाका' के फेर में पड़ जाते थे और उसके 'नाक़िस और सक़ील' शब्दों के बोझ से उर्दू को लद्दू बना देते थे जिससे उर्दू के राज्य में तहलका मच जाता था। खैर, खुदा खुश रखे उन नाज़बरदारों को जो उर्दू को मुहफिल से निकाल कर जनता की चीज बनाना चाहते हैं और बात की बात में आमफहम और आमपसंद कर देना चाहते हैं। हालाँकि आज भी जनता आम का अर्थ आम ही समझती है; फहम तो कभी भी उसकी फहम में आ नहीं सकता।

खुशबयान लोगों ने किस जबान पर से ताज: जबान या उर्दू की ईजाद की ? इसका जान लेना कठिन नहीं। शाह[1] हातिम, जो सैयद इंशा से पुराने और सौदा के उस्ताद थे, दीवानजादे के दीबाचे में लिखते हैं—

"ब रोजमर्र: देहली कि मिरज़ायाने हिंद व फ़सीह गोयाने रंद दर मुहावर: दारंद मंजूर दानिस्त: ।"

इसके आगे जो कुछ और फरमाते हैं उसे वज्र की लेखनी से लिखकर जेहन पर नोट कर लें। उनका दावा है—

"सिवाय आँ, जबान हर दयार, ता बहिंदवी, कि आँ रा भाका गोयंद मौक़ूफ़ नमूद: फ़क़त रोजमर्र: कि आमफ़हम व ख़ासपसंद बूद:, एख़्तयार करद: ।"

१—हिंदुस्तानी (तिमाही रिसाला) हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, जुलाई सन् १९३२, पृ० ३२७।

शाह हातिम ने हिंद के मिरजाओं और फसीह वक्ताओं को लिया था। सैयद इंशा ने दोनों की जगह 'ख़ुशबयानान' को दे दी। होना भी यही था। शाह हातिम के समय (सन् १७५५ ई०) दिल्ली दरबार की कुछ प्रतिष्ठा थी, इसलिये मिरजा लोगों को जगह मिल गई। इंशा के सामने दिल्ली का दरबार नहीं, लखनऊ की मजलिस थी। फिर उन्हें मिरजा लोग कहाँ दिखाई पड़ते? ध्यान देने की बात यह है कि जिसे यार लोग आज आमफहम और आमपसंद या बोल-चाल की भाषा कहते हैं उसका मूलरूप भी कभी आमपसंद न था। याद रहे, शाह हातिम ने उसे खासपसंद कहा है और इस बात की स्पष्ट घोषणा कर दी है कि वह 'देहलवी' नहीं, देहली के कुछ इने-गिने फसीहों और दरबारियों की जबान है। उसमें से आस-पास की जबान और भाका को निकाल फेंका है। बस केवल शिष्टों की वाणी को रख लिया है जिसे समझ तो और लोग भी लेते हैं पर पसंद कुछ चुने हुए लोग ही करते हैं। गर्भ की उर्दू यानी उर्दू-ए-मुअल्ला की आमपसंद अथवा हमारी देशभाषा पर यह पहली चढ़ाई है जिसे उर्दू वाले 'तराश-ख़राश' और न जाने कितने मीठे और भड़कीले नामों से याद करते हैं। क्या आप यह जानना चाहते हैं कि उसी समय भाषावाले किस ओर जा रहे थे? उनकी भी सुन लीजिए। भिखारीदास[1] हिंदी भाषा के एक प्रतिष्ठित कवि तथा आचार्य हैं। उनका आदेश है—

१—काव्यनिर्णय, भाषा-लक्षण।

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोय।
मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होय॥
ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै षट विधि कहत बखानि॥

यह है हमारा आदर्श और यह है हमारे आचार्य का आदेश। यह आदेश हमें सन् १७४६ ई० में मिला था। हमारी इस उदारता, इस सदाशयता का उत्तर मिलता है यह नहीं कि 'मिलै संस्कृत हिंदियौ पै अति प्रगट जु होय' बल्कि ठीक इसके उलटे। तनिक सुन तो लीजिए—

"सिवाय आँ, जबान हर दयार, ता बहिंदवी, कि आँ रा भाका गोयंद मौकूफ़ नमूद:।"

अच्छा, कर ले चलो, देखें हिंद में रहकर हिंदवी को कहाँ तक मौकूफ और मतरूक करते हो। कभी तो गुमराही से ठोकर खाकर ठीक मार्ग पर आओगे और अपने चेहरे का भद्दा दाग छुड़ाओगे।

शाह हातिम के दीवानजादे की जबान को जान-बूझकर हमने गर्भ की उर्दू कहा है। कारण, उर्दू अभी पैदा नहीं हुई थी। जबान में काफी हिंदवीपन था। उसके रहते हुए उर्दू का नाजिल होना दुशवार था। हातिम को जबान कुछ चुने हुए लोगों की जबान थी। उनके मुँह से कभी कभी हिंदी शब्द निकल पड़ते थे और जबान को गँवारी बना देते। निदान जबान पर फ़ारसी का गहरा रंग चढ़ाया जाना शुरू हुआ। यह मर्ज यहाँ तक बढ़ा कि सौदा को, जिन्हें कुछ भाका से प्रेम

था, खला और उन्होंने मजहर वग़ैरह को टोका। उनसे पहले ही शाह मुबारक आबरू ने एक नसीहत की थी लेकिन यारों ने उस पर अमल करना अपराध समझा। नसीहत यह थी—

वक्त जिनका रेख़ते की शायरी में सर्फ़ है
उन सते कहता हूँ बूझो हर्फ़ मेरा ज़र्फ़ है।
जो कि लाए रेख़ते में फ़ारसी के फ़ेल व हर्फ़
लग़ो हैंगे फ़ेल, उसके रेख़ते में हर्फ़ है।

सौदा मामूली आदमी नहीं थे, बदगुमानों की अच्छी तरह मरम्मत कर सकते थे। उन्होंने मियाँ मजहर पर यह फब्ती कसी—

मज़हर का शेर फ़ारसी और रेख़ते के बीच,
सौदा यक़ीन जान कि रोड़ा है बाट का।
आगाह फ़ारसी तो कहें उसको रेख़ता,
वाक़िफ़ जो रेख़ते के ज़रा होवे ठाट का।
सुनकर वह यह कहे कि नहीं रेख़ता है यह,
और रेख़ता भी है तो फ़ीरोज़शाह की लाट का।

सौदा को इतने ही से संतोष नहीं होता। उनको संक्षेप में कहना पड़ता है—

अल्क़िस्सा इसका हाल यही है जो सच कहूँ,
कुत्ता है धोबी का कि न घर का न घाट का।

यकीन रहे यदि सौदा आज होते तो आज की जबान को इससे कुछ अच्छा न कहते। शायद उसे चमगादड़ बना देते।

इसका परिणाम यह हुआ कि लोग कुछ सावधान हुए। सोच-समझकर फारसी का मग्ज गुह्य रूप से उर्दू में भरने लगे। मीर तकी मीर पहले तो तनते रहे और हिंदीपन की दाद भी देते रहे; अंत में उन्हें भी लखनऊ की मजलिस में शरीक होना पड़ा। एक दिन था मीर साहब साफ साफ फटकार कर हिंदी जबाँ की दाद दे सकते थे और कह सकते थे—

क्या जानूँ लोग कहते हैं किसको सरूरे-क़ल्ब,
आया नहीं है लफ़्ज़ यह हिंदी ज़बाँ के बीच।

किंतु यह रंग अधिक दिन तक न जमा। उन्हें भी अपने ख़्याल को फारसियत का जामा पहनाना पड़ा और तब फिर मीर ही मीर हो पाए। फरमाते और कुढ़कर फरमाते हैं—

तबीयत से जो फ़ारसी के मैंने हिंदी शेर कहे,
सारे तुरुक बच्चे ज़ालिम अब पढ़ते हैं ईरान के बीच।

एक दूसरे सज्जन मुरादशाह (मृ० १८३५ ई०) कितनी सच्ची और खरी बात कहते हैं—

नहीं हिंदी सख़ुन में नुक़्स मुमकिन, लताफ़त है बहुत सी इसमें लेकिन।
न शायर हिंद के यों फ़िलहक़ीक़त, गए ले फ़ुर्स के मज़मूँ प सबक़त॥
किफोड़ा फ़ारसी के उस्तख़्वाँ को, किया पुरमग्ज़ तब हिंदी ज़बाँ को।
फ़साहत फ़ारसी से जब निकाली, लताफ़त शेर में हिंदी के डाली॥

सारांश यह कि फारसी का दखल और भाषा का बहिष्कार हो जाने पर 'हिंदी जबाँ' यारों में मकबूल हुई।

गर्भ की उर्दू का जात-कर्म हो गया। अब उसके नामकरण पर थोड़ा सा विचार होना चाहिए। मौलाना सैयद[१] सुलैमान नदवी का निष्कर्ष है—

"कुछ लोग हैं जो यह कहते हैं (बदक़िस्मती से कुछ नावाक़िफ़ लोगों ने इसकी तसदीक़ भी कर दी है) कि इस ज़बान का नाम उर्दू इसलिये पड़ा कि यह मुसलमानों के फ़ातह लश्करों में पैदा हुई। क्या यह लोग मुझे कोई तारीख़ की किताब, कोई रोज़नामचा या तज़किरा छठी सदी हिजरी से लेकर तेरहवीं सदी हिजरी तक का दिखा देंगे जिसमें यह ज़बान उर्दू के नाम से लिखी गई हो?...हक़ीक़त यह है कि उर्दू का नाम तेरहवीं सदी हिजरी में एकाएक आ गया।"

किस प्रकार एकाएक आ गया, इसके पहले कहीं मौखिक रूप में ही सही, प्रयोग में था अथवा नहीं, आदि प्रश्न भी विचारणीय हैं। डाक्टर बेली[२] ने इधर कुछ ध्यान दिया है और यह अनुमान किया है कि संभव है कि उर्दू शब्द मौलिक रूप में प्रयुक्त होता रहा हो। परंतु यह उनका शुद्ध भ्रम है। इस भ्रम का प्रधान कारण है उर्दू को लश्करी भाषा समझ लेना। यदि सच पूछिए तो 'उर्दू' का नामकरण न तो उर्दू (लश्कर) के कारण हुआ है और न अरबी-फारसी और भाषा

१—हिंदुस्तानी, (वही) जनवरी सन् १९३९ ई०, पृ० १७ सच्चिदानंद सिनहा के व्याख्यान में 'फिक्र बालिग़' से अवतरित।

२—J. R. A. S. 1930 p. 395-6

के मेल[1] के कारण। उसका वास्तविक संबंध उर्दू-ए-मुअल्ला के उर्दू से है न कि सीधे किसी तुर्की उर्दू शब्द से। यही कारण है कि उर्दू का प्रयोग उर्दू-ए-मुअल्ला के बाद मिलता है और परंपरा में उसका शाहजहानाबाद या शाहजहाँ से संबंध जोड़ा जाता है। उर्दू-ए-मुअल्ला यद्यपि शाही शिविर या राजधानी का वाचक है तथापि उसका प्रयोग शाहजहाँ की शाहजहानाबादी राजधानी या लाल किला के लिये रूढ़ हो गया है। दिल्ली में लाल किला यानी दरबार और जामा मसजिद यानी मजहबी मकतब या अदबिस्तान, जबान की टकसाल थे और किसी कदर आज भी हैं। मीर साहब जामा मसजिद की सीढ़ियों को बहुत महत्त्व देते थे। दरबारगीरी उनकी मौज के माफिक कब हो सकती थी। मतलब यह कि उर्दू के नाम पर विचार करने

१—इस मेल की बार बार दुहाई दी गई है और उर्दू की यह खास खूबी साबित की गई है। लेकिन इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया है कि मिली-जुली भाषा का नाम 'उर्दू' नहीं बल्कि रेखता रखा गया है। इस रेखता का तुर्की शब्द उर्दू यानी लश्कर से कोई संबंध नहीं। संगीत और काव्य प्रेमियों ने 'रेखता' को ईजाद किया है, कुछ लश्करों या छावनी के लोगों ने नहीं। हिंदी भाषा में फारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग बराबर पाया जाता है। भाषा में फारसी-अरबी या मुसलमानी शब्दों के मिल जाने से उर्दू नहीं बनी। आज तक कोई भी भाषा इस प्रकार नहीं बनी है। उर्दू किस प्रकार बनी इसका कुछ पता इसी लेख से चल जायगा।

के लिये 'लाहौर', 'गजनी' या 'मुल्तान' जाने की जरूरत नहीं, घर बैठे उसका पता लगाया जा सकता है; और साफ साफ बताया जा सकता है कि जो दिल्ली में उर्दू-ए-मुअल्ला या उर्दू की जबान थी वही लखनऊ में पहुँचकर 'उर्दू' बन गई और उर्दू-ए-मुअल्ला से हल्की होकर लखनऊ की मजलिस में मचलने लगी। मसहफी और इंशा में उसके लिये जो मुहफिली दंगल हुआ था उसमें इंशा ने मसहफी को जबान पकड़कर पूछा था—

मुश्फ़िक़ कड़ी कमान को कड़री न बोलिए,
चिल्ला के मुफ़्त तीर मलामत न खाइए।
उर्दू की बोली है यह ? भला खाइए क़सम,
इस बात पर अब आप ही मसहफ़ उठाइए।

कहने का तात्पर्य यह है कि सहूलियत के लिये उर्दू-ए-मुअल्ला की जगह उर्दू का प्रचलन हुआ और लोग सुभीते के लिये जबान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला को जबान-ए-उर्दू कहने लगे। 'जबान उर्दू' तब तक जारी रहा जब तक उर्दू उर्दू की जबान समझी जाती थी। शीघ्र ही वह समय भी आ गया कि उर्दू की जबान का उर्दू की बोली से बिल्कुल नाता टूट गया और वह स्वतंत्र एक बनावटी बोली या मजलिसी जबान बन गई—तब जाके उसका नाम केवल उर्दू करार पाया। यह वही उर्दू जबान है जो उर्दू की जबान पर भी हावी हो गई है और आप से बरहमन लिखाना चाहती है, ब्राह्मण बाम्हन या बाभन नहीं; क्योंकि पहला संस्कृत और दूसरा गँवारू है।

हाँ, तो हमें उसी उर्दू का पता लगाना है जिसकी चर्चा अभी अभी ऊपर हुई है। डाक्टर बेली[1] की धारणा है कि उर्दू का, भाषा के निश्चित अर्थ में सब से पुराना प्रयोग मसहफी (मृ० १८२४ ई०) का है। मसहफी का शेर है—

खुदा रक्खे ज़बाँ हमने सुनी है मीर वो मिरज़ा की;
कहें किस मुँह से हम ऐ 'मसहफ़ी' उर्दू हमारी है।

मसहफी के शेर से उसकी तिथि का ठीक ठीक पता नहीं लगता; लेकिन समझ यह पड़ता है कि मीर और सौदा के निधन के बाद ही कभी यह शेर कहा गया होगा। मीर साहब तो सौदा के बाद भी जीते रहे और अपने कलाम से लोगों को मग्न करते रहे। उनके निधन की तिथि निश्चित नहीं है। डाक्टर बेली[2] ने सन् १७९९ ई० को ठीक माना है। यदि यह ठीक है तो मसहफी का यह शेर १७९९ के बाद की रचना है। इस प्रकार इसका काल सन् १७९० न होकर १८०० या इससे भी बाद में ठहरता है। मौलाना सैयद[3] सुलैमान साहब ने भी उर्दू के प्रयोग के विषय में लिखा है—

"तज़किर: मख़ज़न उल्‌ग़रायब में जो सन् १२१८ हि० (१८०३ ई०) की तालीफ़ है, मिरज़ा मज़हर जानजाना के हाल में लिखा है—

१—J. R. A. S. 1930—पृ० ३१३।
२—J. R. A. S. 1930—पृ० ३१५।
३—अलीगढ़ मैगज़ीन (वही) सन् १९३३ ई०, पृ० २६।

"दर ज़बाने हिंदी कि मुराद उर्दू अस्त।'.....फ़ोर्ट विलियम कालेज की तसनीफ़ात में यह लफ़्ज़ ज़बान के मानों में आम तौर से बोला गया है। इन हवालों से ज़ाहिर होता है कि उर्दू ज़बान के नाम के तौर पर आज से सिर्फ़ डेढ़ सौ बरस पहले की ईजाद है।"

फोर्ट विलियम कालेज पर उर्दू वालों ने धावा बोल दिया है और कुछ लोग उसके मुंशियों की रूह तक की खूब खबर ले रहे हैं। चुनांचे उर्दू के प्राण मौलाना हक[१] फरमाते हैं—

"फ़ोर्ट विलियम कालेज के मुंशियों ने (ख़ुदा उनकी अरवाह को शरमाए) बैठे बिठाए बिला वजह और बग़ैर ज़रूरत यह शोशः छोड़ा। लल्लूजी लाल ने जो उर्दू के ज़बाँदाँ और उर्दू किताबों के मुसन्निफ़ भी थे, इसकी बिना डाली। वह इस तरह कि उर्दू की बाज़ किताबें लेकर उन्होंने उनमें से अरबी, फ़ारसी लफ़्ज़ चुन चुनकर अलग निकाल दिए और उनकी जगह संस्कृत और हिंदी के नामानूस लफ़्ज़ जमा दिए, लीजिए हिंदी बन गई।"

इच्छा तो नहीं थी कि इस प्रकार की हवाई और बे सिर-पैर की बातों पर विचार करें, पर जब देखते हैं कि मौलाना हक का इलहाम उनके चेलों के लिये आप्त वाक्य क्या विधि-विधान बन जाता है और हमारे कुछ नेता भी उसे ब्रह्मवाक्य समझ लेते हैं तब इसकी अवहेलना भी नहीं हो सकती। कहने की

१—उर्दू, (वही) अपरैल सन् १९३७, पृ० ३८३।

आवश्यकता नहीं कि मौलाना हक उर्दू के विधाता, कर्णधार और आचार्य हैं। उनके सामने 'अरबाब नसर उर्दू' के गरीब लेखक सैयद मुहम्मद[1] कादिरी की चल नहीं सकती। फिर भी उनकी राय देख लें—

"लेकिन वह (लल्लूजी लाल) कालेज के दूसरे मुंशियों को हिंदी किताबों के तर्जुमा करने में बड़ी मदद देते रहे और कालेज की सरपरस्ती में बाज़ उम्दः हिंदी किताबों का उर्दू में तर्जुमा कराया। उनकी हिंदी तहरीर भी निहायत साफ़ व शुस्तः थी। अगर उसको फ़ारसी रस्मुल्खत में लिखा जाए तो उसको उर्दू-तहरीर ही कहा जाएगा। इसमें संस्कृत के सक़ील और ग़ैरमानूस अल्फ़ाज़ की बेजा भरमार नहीं है।"

बड़ी कृपा क्या, ऐन इनायत होगी यदि मौलना हक उन उर्दू किताबों का पता बता दें जिनसे लल्लूजी लाल ने अरबी-फारसी ल.फ्ज़ निकालकर, उनकी जगह संस्कृत और हिंदी के नामानूस ल.फ्ज़ जमाकर प्रेमसागर की रचना कर ली। मौलाना हक को पता होना चाहिए कि जब साहिब[2] ने लल्लू जी से कहा कि—

"ब्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो, उसे रेखते की बोली में कहो।"

तब उन्होंने कहा कि—

१—अरबाब नसर उर्दू, पृ० २५० (हैदराबाद)

२—लालचंद्रिका—'कवि-परिचय'।

"बहुत अच्छा, पर इसके लिये कोई पारसी लिखनेवाला दीजे तो भली भाँति लिखी जाय।"

अब तो स्पष्ट हो गया कि मौलाना हक जिसे उर्दू का जन्मदाता समझने की कोशिश करते हैं वह बिना किसी फारसीवाले की सहायता के उर्दू की कौन कहे, रेखते की बोली में भी लिख नहीं सकता था यद्यपि वह मकसूदाबाद में नवाब मुबारक दौला के यहाँ सात वर्ष रह चुका था। इसका एकमात्र कारण यही है कि मौलाना हक तथा उनके हमजोलियों को उर्दू की वास्तविकता का ठीक ठीक पता नहीं है और 'बिला वजह बगैर जरूरत' इस तरह 'आँधर कूकुर बतासे भूँके' को चरितार्थ कर रहे हैं। देखिए फोर्ट विलियम कालेज के मुंशियों से हिदायत की जाती है कि किताबी, मजलिसी या दरबारी उर्दू की जरूरत नहीं है 'ठेठ हिंदुस्तानी', 'खड़ी बोली', 'सलीस रवाजी रेखता', 'अपनी जबान मुवाफ़िक़' यहाँ तक कि 'हिंदी 'रेखता' में लिखना शुरू करो। इसी से साहबों का काम चलेगा।

१—'हिंदी रेखता' का प्रयोग विशेष महत्त्व रखता है और बहुत कुछ महात्मा गाँधी के 'हिंदी-हिंदुस्तानी' प्रयोग को स्पष्ट करता है। जिस प्रकार आज हिंदुस्तानी, हिंदी और उर्दू के बीच की चीज समझी जाती है उसी प्रकार उस समय रेखता बीच की भाषा समझी जाती थी। व्यवहार में जैसे हिंदुस्तानी उर्दू का काम करती है और उसी का साथ देती है वैसे ही रेखता उर्दू का साथ देती थी। मतलब यह कि हिंदुस्तानी और रेखता उर्दू के ही कुछ हल्के या भ्रामक नाम

लिखा सवने। पर लल्लूजी लाल और मीर अमन को जो ख्याति मिली वह और किसी को नसीब न हुई। कारण प्रत्यक्ष है। लल्लूजी लाल ने 'दिल्ली आगरे की[1] खड़ी बोली' में लिखा और मीर अमन ने उर्दू-ए-मुअल्ला की ठेठ[2] उर्दू की जबान में। मीर अमन ने भी बोल-चाल में लिखा तो सही किंतु उनकी सीमा संकुचित थी। सिर्फ उर्दू-ए-मुअल्ला को ही उन्होंने अपना देश बनाया। लल्लूजी लाल का देश उनके देश से कहीं बड़ा और विस्तृत था। उसमें दिल्ली और आगरे का समूचा प्रांत था। पर लल्लूजी लाल ने एक में अनेक का विधान किया और लोग उन्हें दोषी ठहराने लगे। अस्तु, इस प्रसंग को यहीं छोड़िए और देखिए कि स्वयं गिलक्रिस्ट, जो उक्त कालेज के (सन् १८०० से १८०४ ई० तक) हिंदी-अध्यापक और फारसी के भी शिक्षक थे, उर्दू के विषय में क्या कहते हैं। क्या उसे देशभाषा या मुल्की या अदबी जबान मानते हैं? या यों ही यार लोग दून की ले रहे हैं और प्रोपोगंडा के बल पर हिंदी को खतम कर देना चाहते हैं। शाह हातिम (मृ० १७९२

हो गए हैं। इसी लिये राष्ट्रभाषा के उक्त उपासक उनके पहले 'हिंदी' की कैद लगाते हैं जिसका सीधा-सादा अर्थ है कि वे हिंदियत को कायम रखना चाहते हैं। उर्दू की तरह छोड़ना नहीं।

१—प्रेमसागर की भूमिका।

२—बागोबहार का [illegible]

ई०) की घोषणा को सामने रखकर गिलक्रिस्ट[1] साहब के इस घोर विषाद पर ध्यान दीजिए और देखिए कि 'उर्दू' की हैसियत क्या है—

"I very much regret that along with the Brij Bhasha, the Khurree Boli was omitted since this particular idiom or style of the Hindoostanee would have proved highly useful to the students of that language."

साथ ही इसे[2] भी नोट करें कि—

"The Prem Sagur, a very entertaining book, rendered with elegance and fidelity from the Brij Bhasha into the Khurree Boli by Laloojee Lal expressly to effect the grand object of teaching our scholars the Hindoostanee, in its mass extended sensee; and with proper advantages among the grand Hindoo mass of the people at large in British India."

गिलक्रिस्ट के इस कथन से स्पष्ट है कि उस समय प्रेमसागर की रचना इसलिये की गई थी कि सरकारी साहबों को व्यापक

१—Bulletin, S. O. S. London 1936 p. 366.
The Oriental Fabulist, 1803 p. 5.

२—The Hindee Roman Orthoepigraphic Ultimatum p. 20—1.

रूप में हिंदुस्तानी की शिक्षा मिले न कि उर्दू का विरोध करने के लिये। याद रहे, गिलक्रिस्ट ने उर्दू को दरबार की जबान कहा है, कुछ जनता की भाषा नहीं। सन् १७९६ में (जब उक्त कालेज की स्थापना न थी) गिलक्रिस्ट[१] ने लिखा था—

"In the mixed dialect also called Oordoo, or, the polished language of the court, and which even at this day pervades the vast provinces of a once powerful Empire."

तब उनके सामने भाषा का एक सामान्य[२] ढाँचा था जिसका व्याकरण बनाया गया था। उस समय उनके सामने रेख़्ता का रूप था जिसे उर्दू भी कहते थे। परंतु जब उनको उस भाषा की आवश्यकता पड़ी जो सचमुच देशभाषा हो तब उनकी आँख

१—J. R. A. S. 1930. p. 393.

२—हिंदी और उर्दू की 'प्रकृति' में एकता होने के कारण उनके रूपों में समानता पाई जाती है और भाषा-शास्त्र की दृष्टि से उन्हें एक ही कह दिया जाता है। नहीं तो अन्य दृष्टियों से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में हिंदी और उर्दू में गहरा मतभेद है। क्या प्रवृत्ति, क्या पिंगल, क्या पद-योजना, क्या कोश आदि, सभी बातों में उनमें एकता नहीं प्रतिकूलता है। कहाँ तक कहें, उनका बाहरी जामा या लिपि भी तो एक नहीं है। लिपि की भिन्नता के कारण एक होने पर भी ये कभी एक नहीं हो सकतीं। फिर भी लिपि की पूरी उपेक्षा हो रही है। जाने इसका क्या भेद है।

खुली और देखा कि उर्दू मुल्की जबान हरगिज नहीं है। वह दरबार और बड़े बड़े मुसलमानी शहरों में बरती जानेवाली बनावटी जबान है। निदान उनको कालेज के मुंशियों से बार बार कहना पड़ा कि बोलचाल या अपनी जबान में लिखो। उन शब्दों का प्रयोग करो जो जनता के परिचित शब्द हैं। फिर भी मुंशियों पर उर्दू की सनक सवार रही और 'अशअश' कराने के लिये लिखने लगे। एक[1] साहब का हौसला है:—

पिला दे मुझको जामे अरग़वानी, कि जिससे तें हो हातिम की कहानी।
कहें सुनकर उसे अरबाब उर्दू, कि है यह गौहरे नायाब उर्दू॥

लिखने को तो इसलिये कहा गया था कि उसे पढ़कर सरकारी साहब लोग देश की वाणी को अनसुनी न कर दें। जनता के सुख-दुख को सीधे समझ लें और सरकार (जो उस वक्त कंपनी के रूप में थी) के हित को उसके सामने आसानी से रख सकें। पर उर्दू के विधाताओं ने किया इसके ठीक उलटे। नायाब उर्दू लिखने लगे। तिस पर भी तुर्रा यह कि आजकल के भोले-भाले राष्ट्र-भक्त इसी को राष्ट्र-भाषा क्यों नहीं मान लेवें। यह तो बाबा आदम के जमाने से न सही, गिलक्रिस्ट के जमाने से तो राष्ट्र-भाषा है? फिर इसके खिलाफ आवाज क्यों उठाई जाती है? यह जुल्म कैसा? ठीक है। पर जरा मेहरबानी करके मौलाना हक के इस दावे को गलत तो कर दीजिए—[2]

१—आराइश मुहफिल, आरंभ।

२—'उर्दू' (वही) जनवरी सन् १९३३, पृ० १४।

"उर्दू ने उसका (फ़ारसी का) दूध पिया था, उसी के सहारे परवान चढ़ी और वह रंग-रूप निकला कि सबमें मक़बूल हो गई। रफ़्तः रफ़्तः फ़ारसी की जगह उसी का चलन हो गया। यह एक क़ुदरती असूल था। जिस तरह बाप का जानशीन बेटा होता है उसी तरह फ़ारसी की क़ायम मुक़ाम उर्दू हो गई।"

बात बिल्कुल सटीक है। फ़ारसी कभी हमारी राष्ट्रभाषा न थी। वह शाही, सरकारी या राज-भाषा थी। उसकी जगह अँगरेजी ने छीन ली। उसी से उसकी बेटी को भिड़ना चाहिए। हिंदी[1] हिंद की राष्ट्र-भाषा रही है और आज है भी, चाहे राष्ट्र उसे स्वीकार करे चाहे दुतकारे; पर है वही हमारी सच्ची राष्ट्र-भाषा। उर्दू सरकार की ओर से किस प्रकार हमारे ऊपर लादी गई, इसकी एक झलक आपको मिल गई। इसका पूरा पूरा पता

१—हिंदी का तात्पर्य वह नहीं है जो अक्सर अनभिज्ञ लोग समझे बैठे हैं। लल्लूजी लाल की भी हिंदी में 'यामिनीभाषा' का बहिष्कार नहीं है। 'उर्दू' के मुकाबिले में 'हिंदी' को खड़ा करना नादानी है। उर्दू की जोड़-तोड़ का शब्द 'खड़ी बोली' है। उर्दू और खड़ी बोली के झगड़े ने प्रमाद या भ्रमवश हिंदी-उर्दू के दंगल का रूप धारण कर लिया है। यह हमारी लापरवाही और मूढ़ता का द्योतक है। उर्दू ने भाषा का बहिष्कार किया और खड़ी बोली ने फ़ारसी-अरबी का। नतीजा आपके सामने है। हिंदी ने त्याग किसी का भी नहीं किया, पर उर्दू की कड़ी कैद के कारण वह उससे दूर जा पड़ने लगी और दुर्भाग्यवश यह दूरी बढ़ती ही गई।

लगाने के पहले मौलाना हक की एक खोज की दाद दीजिए और उसे सदा के लिये कंठ कर लीजिए। बड़े मौके पर काम आएगी। उनका[1] कहना है—

देहली कालेज में "अरबी-फ़ारसी के तमाम मुसलमीन हिंदी पढ़ते थे। इसमें मसलहत यह थी कि इन जवानों के तुल्बः अमूमन् आला क़ाबलियत के होते थे और जब वह देहात में जाते थे तो गाँववालों से मामिला करने में यह ज़बान कारामद साबित होती थी।" तथा[2]

"अरबी-फ़ारसी के तुल्बः 'बैतालपचीसी', 'सिंघासनबतीसी' और 'प्रेमसागर' पढ़ते थे। यह इस ख़्याल से कि अगर कोई तालिबइल्म फ़ौजी मुंशीगीरी की ख़िदमत क़बूल करे तो उसे अंजाम दे सके।"

सारांश यह कि मरहूम देहली कालेज (मृ० १८७७ ई०) में वही प्रेमसागर अरबी-फारसी के छात्र पढ़ते थे जो आज लोगों को काट खाता है और प्रेम की जगह द्वेष का बीज समझा जाता है। इतना ही नहीं, फौज और देहात के लिये हिंदी का पढ़ना और उसी हिंदी का पढ़ना, जो प्रेमसागर की हिंदी या आधुनिक हिंदी कही जाती है, लाजिमी था। क्यों ? इसी लिये न कि वस्तुतः वही देशभाषा थी—वही राष्ट्र-भाषा थी। वही हिंदुस्तानी थी न कि उर्दू या मजलिसी भाषा जो देहली के आसपास

१—'उर्दू' (वही) जनवरी सन् १९३३ ई०, पृ० ५३।

२— ,, ,, जनवरी सन् १९३३ ई०, '० ५८।

भी बाहर देहात में काम नहीं आ सकती थी—दूर की कौन कहे! इस प्रसंग में मीर साहब की एक बात[1] याद आ गई। उसे भी सुन लीजिए। मार्के की चीज है। मीर साहब "जब लखनऊ चले तो सारी गाड़ी का किराया भी पास न था। नाचार एक शख़्स के साथ शरीक हो गए और दिल्ली को ख़ुदा हाफ़िज कहा। थोड़ी दूर आगे चलकर उस शख़्स ने कुछ बात की। यह उसकी तरफ़ से मुँह फेरकर हो बैठे। कुछ देर के बाद फिर उसने बात की। मीर साहब चीं-बजबीं होकर बोले कि—

"साहब क़िबलः! आपने किराया दिया है। बेशक गाड़ी में बैठिए। मगर बातों से क्या तअल्लुक़?' उसने कहा 'हजरत क्या मुजायक़ः है। राह का शग़ल है, बातों में जरा जी बहलता है।' मीर साहब बिगड़कर बोले कि—'ख़ैर, आपका शग़ल है मेरी जबान ख़राब होती है'।"

मीर साहब 'बेदिमाग़' कहे जाते हैं। यह उनकी बेदिमाग़ी हो सकती है। पर बात यहीं समाप्त नहीं होती। शेख इमाम-बख़्श नासिख़, जो आधुनिक उर्दू के विधाता और जबान के पक्के पहलवान हैं, (इसी पहलवानी के लिये 'नासिख़' की उपाधि से विभूषित हैं) अजीमाबाद से (जो देश में पटना के नाम से प्रसिद्ध है, पर उर्दू में कभी कभी भूले-भटके पटनः के रूप में सुनाई पड़ जाता है) भाग पड़े। वह इसलिये नहीं कि वहाँ आव-भगत की कमी पड़ी, बल्कि इसलिये कि वहाँ

१—आबेहयात पृ० २०५ (मीर साहब का प्रसंग)।

रहने से उनकी जबान बिगड़ती थी। चाँदनी पड़ने से माशूक का बदन मैला हो या न हो किंतु बाहरी जबान कान में पड़ते से इन लोगों का बदन (मुँह) जरूर मैला हो जाता था। तभी तो इस तरह जनता क्या, भद्र पुरुषों से किनारा कसते थे और कमरे में बैठे-बिठाए अरबी-फारसी के बल पर जबान का दंगल मारते थे और शागिर्दों की वाहवाही तथा शरीफों की खूब खूब में मग्न होकर हिंदी जबान का खून कर जाते थे और इमाम नासिख, इमाम नासिख के रोब में जबान के गाजी बन जाते थे। हमें इस बात को याद रखना होगा कि यही नासिख (मृ० १८३८ ई०) उर्दू के पुरोहित और आचार्य हैं। इन्हीं के कारण उर्दू का नाम चला और देखते ही देखते अन्य सब नामों को दबा लिया। आज 'उर्दू' के अतिरिक्त और कोई नाम सुनाई ही नहीं पड़ता। उर्दू के उपासक इस बात पर ध्यान ही नहीं देते कि 'उर्दू' वास्तव लखनऊ की कैद में है। उसे हिंदी, हिंदुस्तानी कहना तो दूर रहा वह सचमुच 'देहलवी' भी नहीं है। आज देहली भी जबान के लिहाज से लखनऊ के वश में है। उसका सोता सूख सा गया है और वह लखनऊ की नहर से (जो फारसी से निकाली गई है) जीवन प्राप्त कर रही है। अरे, यह वह समय है जब काल-चक्र की प्रेरणा से सभी अपनी जड़ सींच रहे हैं पर इस समय भी हिंद ही एक ऐसा अभागा जड़ देश है जो अरबी-फारसी के लिये अपने ही हाथ से अपनी जड़ खोद रहा है।

हाँ, तो इमाम नासिख लखनवी थे। देहली का उन्होंने शायद मुँह भी नहीं देखा था। दिल्लीवालों के लिये वे भी

पूरबी थे। उन्हें जबान का इतना नाज क्यों हुआ कि पटना से भाग पड़े। उनके पिता भी तो देहलवी न थे बल्कि महज पंजाबी थे। उनको इस प्रकार का जबान पर दावा क्यों हुआ ? बात यह है कि अपनी जबान को फारसी के रंग में उन्होंने इतना रँग लिया था कि यार लोग उस पर लट्टू हो गए थे। उन्हें उर्दू-ए-मुअल्ला की सुधि न रही। नासिख के कलाम का सुलम्मा उन पर भी हावी हो गया और वे लोग उन्हीं को कामिल उस्ताद मानकर उनकी जबान की पैरवी करने लगे। नतीजा यह हुआ कि लखनऊ, लखनऊ न रहकर 'इस्फ़हान' हो गया और उर्दू खासी फारसी बन गई। फिर अजीमाबाद से भागते नहीं तो करते क्या ? पटना तो 'इस्फ़हान' होने से रहा। उनकी तारीफ में 'सुरूर' का इजहार है—

"बुलबुले शीराज़ को है रश्क नासिख़ का 'सुरूर'।
इस्फ़हान उसने किए हैं कूचः हाये लखनऊ॥"

कहा जा सकता है कि 'सुरूर' ने शायरी की पिनक में लखनऊ को इस्फहान बना दिया। कुछ नासिख ने सचमुच ऐसा नहीं कर दिया। ठीक है, पर जरा मौलाना[1] सलीम जैसे उर्दू के मर्मज्ञ की इस राय पर गौर तो कीजिए और देखिए कि आखिर बात क्या है। उनका कहना है—

"उसने (नासिख ने) अपने लिये जबान की खास हदूद मुक़र्रर कर ली हैं। उनसे कभी बाहर नहीं निकलता। आम

१—'उर्दू' (वही) जनवरी सन् १९३४, पृ० ५६।

बोलचाल बहुत कम इस्तेमाल करता है। वह एक ऐसी जबान बोलता है जो बिलकुल फ़ारसी ज़बान का अक्स है।"

फारसी के पुजारी प्रायः कह बैठते हैं कि फारसी के मेल से कलाम मीठा हो जाता है। जबान से रस टपकने लगता है। लेकिन तब न, जब समझ-बूझकर दिल के इशारे से काम लिया जाय और भाव का ख्याल बना रहे। पर नासिख के यहाँ तो पहलवानी का जोर है। दिमागी कसरत से काम लिया जाता है और अरब-फारस के लुगती लफ्ज शेर के साँचे में ढाले जाते हैं। नतीजा यह होता है कि नासिख की जबान 'ख़ुश्क और गुट्ठल' हो जाती है। उस समय का रोगी समाज उसी दवा[1] को पीता और अपने को धन्य समझता है। यह सिर्फ इसलिये कि वह बिलकुल फारसी का अक्स है। हिंदीपन का उसमें नाम भी नहीं। संक्षेप में, वही उर्दू है। उसी को नासिख ने उर्दू करार दिया है और उसके प्रचार के लिये हिंदी, रेखता आदि पुराने नामों को एकदम मतरूक कर दिया है। अब आप इसके लिये नासिख के अवश्य कृतज्ञ होंगे कि उन्होंने जनता को धोखे

१—नासिख के दौर की तमहीद में मौलाना आजाद जबान के बारे में लिखते हैं—

"जब (ज़बान) पो.ख्तः साल होती है तो ख़ुशबू अर्क़ उसमें मिलाती है। तकल्लुफ़ के इत्र ढूँढ़कर लाती है। फिर सादगी और शीरीं अदाई तो ख़ाक में मिल जाती है। हाँ, दवाओं के प्याले होते हैं जिसका जी चाहे पिया करे।"—आबेहयात पृ० ३४०।

में नहीं रखा, बल्कि साफ साफ कह दिया कि अब यह तुम्हारी हिंदी नहीं, हमारी 'उर्दू' है। इस उर्दू में दाखिल होने के लिये हिंदीपन को छोड़ना ही पड़ेगा। बिना अरबी-फारसी की शरण गए, अब आपका काम चलने से रहा। यह उर्दू-ए-मुअल्ला नहीं है कि बोलचाल के हिंदी शब्द भी लिख मारो। यह उर्दू है, और नासिख की उर्दू है। इसमें रेखता या बपला का काम नहीं। शुद्ध फारसी का बोलबाला है। भाषा का नाम नहीं। सारांश यह कि हमीं उसके मिटानेवाले (नासिख) हैं। कहने की जरूरत नहीं कि देहली भी आज इसी नासिखी उर्दू के मातहत है, यद्यपि कभी कभी कुछ तन जाती है और अपनी जबान के जोम में कुछ हिंदीपन दिखा जाती है। पर अब उस बूढ़ी को पूछता कौन है। अब तो लखनऊ की इस नाजनी का राज्य है। चारों ओर इसी की नौबत बज रही है। गजब तो यह है कि मौलाना हक इसकी दाद नहीं देते बल्कि उलटे कह बैठते हैं—

"उर्दू जबान जदीद हिंदी की तरह किसी ने बनाई नहीं, वह तो .खुद बखुद बन गई और उन .कुदरती हालात ने बनाई जिन पर किसी को .कुदरत न थी। इसमें हिंदू और मुसलमान दोनों शरीक थे और अगर हिंदुओं की इसमें शिरकत न होती तो यह वजूद ही में नहीं आ सकती थी।"[1]

'उर्दू जबान' से यदि मौलाना हक का मतलब उर्दू की जबान, रेखता या मिली-जुली मिश्र भाषा यानी हिंदी से है तो

१—'उर्दू'। वही) अप्रैल सन् १९३७, पृ० ३८४।

इसके विषय में हमें यहाँ कुछ भी नहीं कहना है लेकिन अगर उनका उद्देश्य उर्दू, उसी उर्दू से है जिसकी रामकहानी ऊपर सुन चुके हैं तो खरे और स्पष्ट शब्दों में हम साफ साफ डंके की चोट पर अर्ज करेंगे कि उनका यह दावा सोलहों आने गलत है। अगर उनको कुछ भी हक का ख्याल और अदब है तो कृपया उस हिंदू का नाम बता दें जिसने 'हातिम' से लेकर 'नासिख़' तक इसमें शिरकत की है और उसकी सनद उर्दू के पास धरी है। यदि वे ऐसा नहीं करते तो स्पष्ट है कि इस तरह की धाँधली का गुर क्या है और क्यों इस प्रकार का जाल बिछाया जा रहा है। माना कि 'सात समुंदर पार' के लोग नादानी से इस तरह की बातें लिख गए हैं कि उनसे मौलाना हक को कुछ इस प्रकार कहने में मदद मिल जाती है, पर इतने ही से वे प्रमाण तो नहीं हो गए। अगर उनको 'उर्दू' का ठीक ठीक पता नहीं है, उर्दू लफ्ज को पकड़कर उर्दू के आचार्य बन बैठे हैं तो इस रोशनी के जमाने में उनकी चलती कब तक रहेगी। किसी न किसी दिन उन्हें भी प्रकाश में आकर सत्य का पक्ष लेना ही पड़ेगा। हक उनको यों ही नहीं रहने देगा। उनके भी जिगर में हक की हूक उठेगी। हर्ष की बात है कि उन्होंने[१] इतना सहर्ष स्वीकार भी कर लिया है—

"अलबत्तः उर्दू पर एक ऐसा तारीक जमानः आया कि हमारे शोरा ने अक्सर हिंदी ल.फ्जों को मतरूक क़रार दिया

१—उर्दू (वही) अप्रैल सन् १९३७ ई०, पृ० ३८६।

और उनके बजाय अरबी-फ़ारसी के लफ़्ज़ भरने शुरू किए। और यही नहीं बल्कि बाज़ अरबी-फ़ारसी अलफ़ाज़ जो ब तग़ैयुर हैय्यत या ब तग़ैयुर लफ़्ज़ उर्दू में दाख़िल हो गए थे, उन्हें भी ग़लत क़रार देकर असल सूरत में पेश किया और उसका नाम 'इसलाह ज़बान' रखा।"

मौलाना हक़ ने साफ़ नहीं किया कि इस 'तारीक ज़मानः' का पेशवा कौन है। पर इतना संकेत कर दिया है कि इसके बाद ही सर सैयद अहमद खाँ का जहूर हुआ है। सर सैयद के पहले नासिख़ का बोलबाला था। उन्हीं पर यह 'तारीक ज़मानः' फिट होता है। उनके पहले इंशा का (मृ० १८१७ ई०) दौर था जिसे 'उर्दू ज़बान का अहदे जाहिलियत'[१] का खिताब मिला है। फिर भी इंशा पर मौलाना हक़ का कथन ठीक नहीं उतरता क्योंकि उनका [२] दावा था—

"हर लफ़्ज़ जो उर्दू में मशहूर हो गया, अरबी हो या फ़ारसी, तुर्की हो या सुरयानी, पंजाबी हो या पूर्बी, अज़रूए असल ग़लत हो या सही, वह लफ़्ज़ उर्दू का लफ़्ज़ है। अगर असल के मुआफ़िक़ मुस्तामल है तो भी सही है और अगर ख़िलाफ़ असल मुस्तामल है तो भी सही है। उसकी सेहत व

१—हिंदी-उर्दू, और हिंदुस्तानी (हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद) पृ० १३।

२—दरिया-ए-लताफ़त (वही ; मुक़दमः पृ० ४। (मौलाना हक़ द्वारा संपादित)।

ग़लती उर्दू के इस्तेमाल पर मौक़ूफ़ है। क्योंकि जो कुछ ख़िलाफ़ उर्दू है ग़लत है, गो असल में वह सही है। और जो कुछ मुआफ़िक़ उर्दू है सही है, गो असल में सेहत न रखता हो।"

स्पष्ट है कि सैयद इंशा के इस कथन में 'इसलाह ज़बान' का विधान नहीं है। चाहें तो इसे ज़बान की कसौटी कह लें। सैयद इंशा शाहजहानाबाद के 'उर्दू' की बोली को प्रमाण मानते थे। उसी का उन्होंने यहाँ भी उल्लेख किया है। यदि उनके दौर को 'अहदे जाहिलियत' कहा गया है तो उनके बाद के दौर को तारीक ज़माना कहना चाहिए। क्योंकि तराश-खराश का मर्ज़ बढ़ते बढ़ते अब उससे भी एक नया और अजीब 'इसलाह' का रूप धारण कर चुका था। दुनिया जानती है कि नासिख ने इस 'इसलाह ज़बान' का नए सिरे से प्रवर्तन किया और यहाँ तक 'इसलाह' पर जोर दिया कि इसी की बुनियाद पर अपने को 'नासिख' (मिटानेवाला) सिद्ध किया। इन्हीं की कृपा से सैयद इंशा का उक्त दावा मंसूख हुआ और इन्हीं की कोशिशों से इस इसलाही ज़बान का नाम उर्दू चल पड़ा। यही वह उर्दू है जो फारसी की छाया या लाड़ली होने के नाते फारसी की जगह सरकारी ज़बान हुई और धीरे धीरे सरकार की नादानी और बदगुमानी से मुल्की ज़बान (हिंदुस्तानी) के रूप में संसार में ख्यात हुई। सरकार का अपनाना था कि वह रानी बन गई और चारों ओर से हिंदी या भाषा को छोप लिया। इसके बाद जो हिंदी-उर्दू में मुठभेड़ हुई उसकी चर्चा यहाँ न होगी।

यहाँ इतना भर संकेत कर देना है कि उर्दू राजा की ओर से जनता के सिर मढ़ी गई है। दर हकीकत प्रजा की वह चीज नहीं। इसका सबसे पुष्ट और सरल प्रमाण यह है कि मसीही प्रचारकों ने जनसाधारण में प्रचार के लिये भाषा को अपनाया 'इसलाही जबान' या उर्दू को नहीं। कारण स्पष्ट है। उनके सामने लोक-हृदय का प्रश्न था। रोब जमाना उनका धर्म न था। वे तो जनता का हृदय छूना चाहते थे। परंतु सरकार को शासन करना था। उसके सलाहकार फारसी के आदी थे जो उसी के सहारे अपने को जनता से अलग रख पाते थे और अपने को बढ़कर सिद्ध कर सकते थे। निदान, यह मानना पड़ता है कि वस्तुतः उर्दू 'तारीक जमानः' का वह तमगा है जो सरकार की ओर से मिलने के कारण एक विशेष महत्त्व रखता है और उसी की अनुकंपा से सबके लिये आदर का कारण होता है। सरकार ने उसको जो महत्त्व दिया, उसका उल्लेख यहाँ न होगा। यहाँ इसी को स्पष्ट कर देना है कि दर हकीकत उर्दू राजभाषा की सगी होने के कारण दरबार में प्रतिष्ठित हुई, कुछ प्रजा की बानी होने के नाते नहीं। प्रजा की वाणी को लेकर जो भाषा उसके सामने मैदान में आ डटी वह वही पुरानी हिंदी थी जिसका बहिष्कार केवल इसलिये कर दिया गया था कि वह प्रजा की भाषा यानी हिंदी थी, फारसी नहीं। भूलना न होगा कि कल जो फारसी[1] को अपनी जबान कहते थे

१—फारसी को अपनी जबान कहनेवाले मुसलमानों की कमी नहीं। 'हमारे यहाँ' से उनका तात्पर्य प्रायः फारस या फारसी से होता

वे ही आज उर्दू को मादरी जबान कह रहे हैं। नासिख की जबान किसी की मादरी जबान नहीं है। वह तो एक खास टोली की अदबी जबान है। वह मौलाना हक के कथनानुसार 'तारीक जमानः' की 'इस्तलाही जबान' है न कि उस जमाने की बोलचाल या मुल्की जबान।

उर्दू के बारे में बार बार यही कहा जाता है कि वह हिंदुओं और मुसलमानों के मेल से बनी है। वह हिंद की मादरी या मुल्की जबान है। इतना अर्ज करने के बाद भी यदि इसी तरह का दावा पेश किया जाय तो कहना पड़ेगा कि अब तर्क-वितर्क का जमाना लद गया। अब हुल्लड़बाजों का जमाना है। जो कुछ कहें उन्हें सब छाजा की बात ठहरी। पर अपने राम को तो यही कहना है कि उर्दू दर हकीकत फारसी की बिलकुल अक्स या छाया है वह हिंदुस्तान की अपनी चीज नहीं, फारस या अरब की बरकत है। उसमें शरीक होकर हिंदुओं ने क्या किया इसे भी देख लें। मौलाना हक[1] का उल्लास है—

है। एक सज्जन, जो जायस की बोली में बातचीत कर रहे थे और न जाने कितने दिनों से उनके पूर्वज वहाँ के रोड़े बन गए थे, अपनी जबान फारसी बताते थे। उर्दू से उन्हें संतोष न था। उसको वे हिंदुस्तानी जबान समझते थे। जान पड़ता है, समय की गति को देखकर जो चेत गए हैं वे तो उर्दू को मादरी जबान कहते हैं नहीं तो अन्य लोग परंपरा के कारण आज भी फारसी को अपनी जबान समझते हैं।

१—उर्दू (वही) जनवरी सन् १९३३ ई०, पृ० १४।

"उस वक्त के किसी हिंदू मुसन्निफ़ की किताब को उठाकर देखिए। वही तर्ज़ तहरीर है और वही असलूब बयान है। इब्तदा में बिस्मिल्लाह लिखता है। हम्द व नात व मन्क़बत से शुरू करता है। शरई इस्तलाहात तो क्या हदीस व नस .क़ुरान तक बेतकल्लुफ़ लिख जाता है। इन किताबों के मुताल: से किसी तरह मालूम नहीं हो सकता कि यह किसी मुसलमान की लिखी हुई नहीं।"

फिर भी किसी हिंदू को उर्दू जबाँदानी की आज तक सनद न मिली। मौलाना हाली[1] तक ने कहा—

"दूसरी शर्त यह थी कि डिक्शनरी लिखनेवाला शरीफ़ मुसलमान हो, क्योंकि .ख़ुद देहली में भी फ़सीह उर्दू सिर्फ़ मुसलमानों ही की ज़बान समझी जाती है। हिंदुओं की सोशल हालत उर्दू-ए-मुअल्ला को उनकी मादरी ज़बान नहीं होने देती।"

शायद इसी 'सोशल हालत' को अपनी नाकामयाबी का कारण मानकर हिंदुओं ने उर्दू में लिखते समय अपने को पूरा पूरा मुसलमान बना दिया। इसमें उनको यहाँ तक कामयाबी हासिल हुई कि मौलाना हक़ तक उनके कलाम से उनके हिंदू होने का कोई प्रमाण नहीं दे सकते। फिर भी उर्दू ज़बान के लिखने में उन्हें कामयाबी नसीब न हुई। लखनऊ के नासिख उस्ताद बन गए। उनके इशारे पर उर्दू नाचने लगी। वे तो देहलवी या नजीब न थे। फिर इस सनद का कारण क्या है?

१—हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी (वही) पृ० ४८ पर अवतरित।

आप स्वयं सोचें और विचार करें कि जिस उर्दू में हिंदुत्व खोकर भी हम कामयाब न हुए, हमारी जबान सनद न मानी गई, वही उर्दू आज क्यों और कैसे हमारी मादरी जबान कही जा रही है। उसी उर्दू को हम कैसे और किस न्याय से मुल्की ज़बान या राष्ट्रभाषा मान लें? वह तो मुसलमानी भी नहीं, एक जत्थे की बनावटी जबान है जो आज अदबी जबान के रूप में मुल्क में फल-फूलकर फैल रही है और प्रमादवश अपने इतिहास को छिपाकर राष्ट्रभाषा के आसन पर आसीन होना चाहती है। उसमें हिंदू-मुसलिम एकता नहीं, मुसलमानी नहीं, बल्कि अरबियत और फारसियत का बनावटी या बाहरी दबाव है। उससे हम कहीं अधिक उस फारसी का आदर करते हैं जिसमें हमारी हिंदियत का स्वागत और सम्मान है। जो फारसी अपने राजपद से उतरकर हिंदी से मिलकर, अपने आपको भी हिंदियत से सरस करती है उस फारसी के सामने उस उर्दू को कौन पूछेगा जिसने हिंदियत को दुतकारना अपना फर्ज बना लिया हो। उर्दू की गाथा मुसलमानों के पतन और हिंदवी के बहिष्कार की कहानी है। उसकी प्रवृत्ति और प्रगति में द्वेष और विलास का राज्य है, प्रेम का प्रसार या त्याग का इतिहास नहीं। हिंदियत की दृष्टि से विचार करो और गौर से देखो कि उर्दू का रुख किधर है, किस ओर वह बढ़ी चली जा रही है। कहाँ उसका असली ठिकाना है?

अस्तु, भूलना न होगा कि उर्दू की इस कठोर कैद के कारण उसके लेखकों की दृष्टि व्यापक या बहुमुखी न होकर केवल

एकांगी, किताबी या बनावटी हो गई हैं। अभी उस दिन 'ठेठ उर्दू'[1] में लिखते समय एक उर्दूदाँ[1] ने दर्प के साथ कहा था—

"मेरे लिखने का यह ढंग नहीं।"

तो फिर उन्होंने वैसा क्यों लिखा? उन्हीं के मुँह से सुनिए—

"आपकी अनोखी लिखत देख के ध्यान आया ठेठ उर्दू ही में आपसे बातचीत करूँ और हो सके तो अरबी-फ़ारसी को हाथ न लगाऊँ और दिखाऊँ कुलाहल, संपत्ति, अभ्यास, निश्चय जैसे भूले-बिसरे कढ़व बोलों को छोड़ के ठेठ उर्दू यों लिखी जा सकती है।"

सैयद अबुल्कासिम की 'ठेठ उर्दू' ने सैयद इंशा की 'हिंदवी छुट' को सामने ला दिया और दिखा दिया कि 'इसलाह जबान' की कृपा से जो पहले 'अच्छे से अच्छे भले लोगों के बोल[2] थे' आज 'भूले-बिसरे' ठेठ हो गए। अब कल की कौन कहे। डर है, कहीं सड़े-गले न साबित कर दिए जायँ। हमें तो 'इसलाह जबान' के भक्तों से साफ़-साफ़ कह देना है कि यह आपकी फारसी-दृष्टि का दोष है जो आस-पास के खड़े शब्दों को ठेठ कहकर दूसरों के कोप पर छापा डालती है और दूसरों की कमाई को अपनी पूँजी समझती है। आपकी इस प्रकृति या मजाक का कारण आपकी वह टटकी गुलामी है जो अरबियत और फार-

---

१—हिंदुस्तानी, (वही) अक्टूबर सन् १९३६ ई०, पृ० ४९७।

२—रानी केतकी की कहानी (श्रोता से बातचीत)।

सियत की ओर टकटकी लगाए देख रही है और उसकी जूठन को महाप्रसाद समझती है। भला फारसवाले आपको क्या कहते होंगे जो अरबियत और तुरकियत से बाल बाल बचकर शुद्ध फारसियत को[1] अपना रहे हैं। संक्षेप में पक्के फ़ारसी बन रहे हैं। पर यहाँ तो अभी वही उर्दू का पुराना राग अलापा जा रहा है और देश के एक छोर से दूसरे छोर तक प्रचलित शब्द

१—मौलाना अब्दुल हक ने कहा है—"तुर्कों ने अपनी ज़बान से ग़ैर ज़बानों के लफ़्ज़ निकालना शुरू कर दिए हैं। ईरान में पहले भी एक कोशिश हुई लेकिन नाकाम रही। अब वह फिर तुर्कों की तरह ग़ैर ज़बानों के अल्फ़ाज़ निकाल देने पर आमादः नज़र आते हैं।" उर्दू (त्रैमासिक पत्रिका) सन् १९३७ ई०, पृ० ३७५।

स्पष्ट है कि उनकी इस उग्र चेष्टा का कारण राष्ट्र-प्रेम है। राष्ट्र-प्रेमी अपनी जबान पर से गुलामी की मुहर निकाल फेकने पर तुले हैं। उनकी जबान पर अब गुलामी की लगाम न रहेगी। पर हिंदी के राष्ट्र-प्रेमी उसी गुलामी की लगाम के लिये मुँह बाए खड़े हैं। वह केवल इसलिये कि यहाँ हिंदू लोग भी रहते हैं और एक ऐसी भाषा बोलते हैं जो हिंदी के नाम से ख्यात है, जिसमें बहुत कुछ हिंदीपन बाकी रह गया है। उसका एकमात्र अपराध कदाचित् यही है कि वे हिंदू ही रह गए हैं मुसलिम नहीं हुए। यदि वे भी मुसलिम हो गए होते तो आज हिंद में भी हिंदी का नारा बलंद होता न कि अरबी-फारसी का बेतुका राग अलापा जाता और उनपर तरह तरह के लांछन लगाए जाते।

भी सिर्फ इसी लिये नहीं लिखे जाते हैं कि उनको लिखने का हुक्म नहीं है। उर्दू के किसी उस्ताद ने उन्हें नहीं लिखा और यदि लिखा भी तो उन्हें उर्दू की छाप नसीब न हुई। आखिर इन सब खुराफातों की जड़ क्या है। मौलाना सलीम[1] जैसे उर्दू के मर्मज्ञ की राय सुनिए और हक के लिहाज से उन्हें दाद दीजिए—

"आखिर हिंदी अलफाज को सखीफ और मुब्तजल समझने की वजह क्या है? इसकी वजह साफ जाहिर है। जो क़ौम अपने दर्जे से गिर जाती है, वह हुर्रियत का ताज सर से उतार कर गुलामी का तौक़ पहन लेती है, वह अपनी हर चीज को परतोजलील समझने लगती है। अपना मजहब, दूसरों के मजहबों के मुक़ाबिले में, उन्हें अदना और कमजोर नजर आता है। गैरों के इखलाक़ और आदाबो-रसूम अपने इखलाक़ और आदाबो-रसूम से अच्छे दिखाई देते हैं। इसी तरह अपनी जबान भी उन्हें गैरों की जबानों की निस्बत, नाशाइस्ता और कमसाया मालूम होती है। गैर जबानों के अलफाज उनकी नजर में निहायत शानदार और अरफ़ा हो जाते हैं, और अपनी जबान के अलफाज हक़ीर और मुब्तजल मालूम होते हैं। यह मैलान गिरी हुई क़ौम के तमाम मामलात व हालात पर यकसाँ तौर से हावी हो जाता है।"

१—वज़े इस्तहालात पृ० १७६। हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी पृ० ६२ पर अवतरित।

तो क्या उर्दू गिरी हुई कौम की निशानी है? राष्ट्र-हृदय से उसका कुछ भी सीधा संबंध नहीं? हमें इसके उत्तर की जरूरत नहीं। आप स्वयं विचार करें और देखें कि उसकी असलियत क्या है। कहाँ तक वह लोक-भाषा या मुल्की जबान कहलाने के योग्य है? क्यों उसने भाका या हिंदवीपन को छोड़ अरबियत और फारसियत का तौक पहना और अपने तई हिंदी कहलाना भी अपराध समझा? आपके इसी निर्णय पर देश का भविष्य निर्भर है। याद रहे, सत्य ही की जीत होती है, अनृत या झूठ की नहीं। यदि आप सत्य का साथ देंगे तो सत्य अवश्य आपका साथ देगा और फिर राष्ट्र का बेड़ा पार है।

गार्सां द तासी और हिंदी

पेरिस में पड़े-पड़े प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् गार्सां द तासी ने[1] हिंदुस्तानी के लिये जो कुछ किया, उसका पता बहुतों को नहीं है। धन्य कहिए उर्दू के प्राण डाक्टर मौलाना अब्दुल हक़ को, जिनके प्रयत्न से उनके अनेक व्याख्यान 'उर्दू' की तिमाही पत्रिका में प्रकाशित होकर जनता के सामने आए और अब उनमें से अधिकांश पुस्तक के रूप में उपलब्ध भी हो गए। 'गार्सां द तासी' हिंदुस्तानी के उन धुरंधर विद्वानों में से एक ही नहीं, प्रत्युत सर्वोपरि हैं, जिन्होंने भारत में आने का कभी कष्ट नहीं किया किंतु अपने प्रबल परिश्रम और तत्पर निष्ठा के कारण स्वयं भारतीयों को भी मात कर दिया। डाक्टर गिल-क्रिस्ट ने हिंदुस्तानी की जो सेवा की वह बहुत कुछ अँगरेज

१—गार्सां द तासी का जीवन-काल सन् १७९४ से सन् १८७८ ई० तक ठहरता है। मुख्यतः वे उर्दू के प्रोफ़ेसर थे, पर साथ ही साथ हिंदी की गति-विधि पर भी ध्यान रखते थे। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास' का प्रकाशन सर्वप्रथम सन् १८३९ ई० में हुआ, जिसमें हिंदी तथा उर्दू के कवियों का उल्लेख किया गया। उनके प्रति वर्ष के व्याख्यानों के अध्ययन से अनेक तथ्यों का उद्घाटन हो जाता है और हिंदी साहित्य के गद्य-काल की कुछ पूर्ति भी हो जाती है।

जाति की तल्लीनता थी। शासन से उसका अटूट संबंध था। कम्पनी के नौकरों के लिये हिंदुस्तानी का जानना अनिवार्य था। किंतु गार्सां द तासी की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न थी। वह शासक नहीं, जिज्ञासु थे। उनकी तल्लीनता थी निष्ठा और प्रेम के रूप में। हिंदुस्तानी से उन्हें प्रेम हो गया था। अरबी, तुर्की तथा फारसी के अध्ययन से जब उनका पेट न भरा तब उन्होंने हिंदुस्तानी को मुँह लगाया और जी-जान से उस पर टूट पड़े; जीवन भर उसके पठन-पाठन में मग्न रहे।

बहुतों की भाँति गार्सां द तासी का भी यह दृढ़ दावा था कि हिंदी-उर्दू-विवाद की गहरी छान-बीन और सच्ची समालोचना सचमुच "फिरंगी" ही कर सकते हैं। निदान, अपने व्याख्यानों में उन्होंने बारबार इसकी घोषणा की है कि यूरोप के लोग ही हिंदी-उर्दू-विवाद की समस्या को यथार्थ रूप में हल कर सकते हैं। हमारे लिये सचमुच यह बड़े सौभाग्य की बात होती यदि हमारे उक्त विदेशी बंधु हमारे सांप्रदायिक भावों से अलग रह, स्वच्छ हृदय से हमारी भाषा की परख करते और उसके स्वभाव के अनुकूल उसके प्रवाह को व्यवस्थित कर हमारे साहित्य को निर्मल तथा गतिशील बनाते। किंतु खेद की बात तो यह है कि हमारे इन निष्पक्ष बंधुओं ने एक ओर तो हमारी धार्मिक भावनाओं पर वज्रपात किया और दूसरी ओर एक ऐसी आग लगा दी, जो उपचार करने से प्रतिदिन और भी बढ़ती क्या, भभकती ही जा रही है। क्या ही अच्छा हो, यदि आज भी हिंदुस्तानी चेत जायँ और उन सभी कारणों पर पूरा-पूरा विचार

अरे, जिनकी उपेक्षा करने से हमारी यह अधोगति हुई और यह फूट पड़ी है।

सन १८५२ ई० की बात है। अपने ५ दिसंबर के व्याख्यान में गार्सां द तासी ने जो कुछ कहा था वह इसी पुस्तक में, पृष्ठ ७४–७५ पर, 'राष्ट्रभाषा का नाम' शीर्षक में देखिए।[1]

गार्सां द तासी का प्रकृत कथन बड़े महत्त्व का है। इस पर विचार करने से पता चलता है कि—

(१) 'हिंदी' शब्द का प्रयोग 'हिंदुस्तानी' से अच्छा, व्यापक और कहीं स्पष्ट है।

(२) 'हिंदी' को मुसलिम बादशाहों ने भी लोक अथवा राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया और दफ्तरों में फारसी के साथ ही साथ उसे जगह भी दी। उसको कभी त्याज्य या गँवारी नहीं ठहराया।

(३) ब्रिटिश सरकार ने भी हिंदू-हित के विचार से हिंदी को महत्त्व दिया और देवनागरी लिपि में कानून की किताबें छपवाईं। कारण,

---

१—गार्सां द तासी के व्याख्यानों का एक संग्रह अंजुमन तरक्की उर्दू औरंगाबाद से 'उर्दू' में अनूदित होकर प्रकाशित हुआ है और शेष वहीं की त्रैमासिक पत्रिका 'उर्दू' में प्रकाशित हो रहे हैं। उक्त संग्रह में सन् १८५० से लेकर सन् १८६६ ई० तक के व्याख्यान संगृहीत हैं। क्या ही अच्छा होता, यदि हिंदीवालों का भी ध्यान उधर जाता और वे भी अपने साहित्य को इससे संपन्न करते।

(४) ब्रिटिश राज्य में भी "हिंदी उर्दू के साथ साथ उसी तरह क़ायम है जैसे कि फ़ारसी के साथ थी।"

हिंदी की जिस स्थिति का पता गार्सां द तासी ने दिया है वह फिर भी संतोषजनक है। उर्दू के साथ ही साथ उसकी भी सत्ता स्वीकार की गई है। हाँ, इतना अवश्य हुआ है कि सरकार ने उसे दफ्तरों से निकाल दिया है और उर्दू को उसकी जगह बिठा दिया है।

हिंदी की तरह हिंदी लिपि के विषय में भी गार्सां द तासी का कहना है कि उसका व्यवहार भारत के बाहर भी होता है। प्रमाण के लिये उनका यह कथन लीजिए—

"मैंने तिजारती सामान की रसीद देखी, जो बंदरगाह लामू पर जंजीबार के क़रीब जहाज़ पर लादा गया था और अदन भेजा गया था। यह रसीद नागरी रस्म ख़त में थी जो आम तौर पर बनिए लोग अपने ख़त व किताबत में इस्तेमाल करते हैं।"—(वही पृ० ३७४)

यह तो हुई नागरी लिपि की व्यापकता की बात, अब तनिक उसकी उपयोगिता पर भी ध्यान दीजिए—

"मिस्टर डंकन फ़ौर्बस (Duncan Forbes) ने (मृ० १८३४ ई०) अपनी उर्दू लुग़त का दूसरा एडीशन शाया कर दिया है। इस एडीशन में उर्दू के अल्फ़ाज़ को देवनागरी ख़त में भी लिख दिया है। इन्होंने यह काम कमाल इहतियात और दीदारेज़ी के साथ किया है। जब हिंदी अल्फ़ाज़ फ़ारसी ख़त में लिखे जाते

हैं तो उनकी हैय्यत ऐसी बदल जाती है कि उन्हें बाज़ औक़ात पहचानना दुशवार हो जाता है।"—(वही पृ० २४८)

हिंदी भाषा तथा नागरी-लिपि की जिस योग्यता और जिस व्यापकता का परिचय ऊपर दिया गया है वह कितना यथार्थ है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। सभी जानकारों ने एकमत से नागरी के महत्त्व को माना है और हिंदी की परंपरा का प्रतिपादन किया है। पर काल-चक्र के प्रभाव से वह दिन भी सामने आ गया, जब गार्सां द तासी ने दिल खोलकर हिंदी तथा नागरी को कोसा और उर्दू की भरपूर हिमायत की।

हिंदी-उर्दू के विवाद ने गार्सां द तासी को उर्दू का कट्टर पक्षपाती बना दिया और यह स्पष्ट कर दिया कि भाषा तथा लिपि के प्रसंग में भी किस प्रकार मजहबी कट्टरता हावी हो सकती है। हिंदी-उर्दू-विवाद के प्रसंग में गार्सां द तासी का मत है :—

"मेरे ख़्याल में हिंदी-उर्दू का झगड़ा कोई अहमियत नहीं रखता। ख़्वाहम ख़्वाह इसको इतना बढ़ा-चढ़ाकर इस वक़्त पेश किया जा रहा है। हिंदी और उर्दू दोनों एक ही ज़बान की दो शाखें हैं। मुश्किल यह आ पड़ी है कि इस मसले पर जब बहस की जाती है तो महज़ नहो (पद-योजना) पर मुत्तफ़्क़ नहीं होती, बल्कि समझा जाता है कि हिंदी हिंदू धरम की नुमायन्दः है; वह हिंदू धरम जिसमें बुतपरस्ती और उसके लवाज़मात बुनियादी अक़ीदे की हैसियत रखते हैं। इसके बरअक्स उर्दू इसलामी तहज़ीब व तमद्दुन की अलम-

बरदार है। और चूँकि इसलाम में सामी अंसर शामिल हैं और तौहीद उसका अमल अक़ीद: है इसलिये इसलामी तहज़ीब में यूरोपियन या मसीही तहज़ीब की खसूसियात पाई जाती है।" —(वही पृ० ५४१-२।)

भाषा पर विचार करते-करते गार्सां द तासी मजहब पर टूट पड़े और बुतपरस्ती के कारण हिंदी के विरोधी बन गए। कहा जा सकता है कि उपर्युक्त कथन में गार्सां द तासी ने अन्य मसीही समीक्षकों के राग-द्वेष का उल्लेख किया है, कुछ अपने पक्ष का प्रदर्शन नहीं। ठीक है, पर तनिक कृपा कर उनके इस दावे पर तो ध्यान दीजिए। उनका कहना है—

"मैं सैयद अहमदखाँ जैसे मशहूर व मारूफ़ मुसलमान आलिम की हिमायत में और कुछ ज्यादह नहीं कहना चाहता। ......मुझे उर्दू ज़बान और मुसलमानों के साथ जो लगाव है वह कोई छिपी हुई बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि मुसलमान लोग बावजूद क़ुरान को किताब-इलाही मानने के इंजील मुक़द्दस की इलहामी तालीम से इन्कार नहीं करते, हालाँकि हिंदू लोग बुतपरस्त होने के बाअ़स इंजील की तालीम को कभी तसलीम नहीं कर सकते।" ('उर्दू' अप्रैल सन् १८७० ई०, पृ० २८०; व्याख्यान १८७० ई०।)

सैयद अहमदखाँ का उल्लेख विशेष रूप से विचारणीय है। वस्तुतः सैयद अहमद[1] ही वह व्यक्ति हैं जिनके प्रसाद

१—सैयद अहमद खाँ के इस रूप से अपरिचित हो जाने के कारण हिंदी-उर्दू-विवाद का दोषारोपण बा० शिवप्रसाद अथवा स्वामी

से हिंदी-उर्दू का प्रश्न हिंदू-मुसलिम संप्रदाय का दंगल हो गया है और आज तो वह वर्ग-विशेष के सामने जीवन-मरण के रूप में दिखाई दे रहा है।

सैयद अहमदखाँ पर दिल्ली के पराभव का जो प्रभाव पड़ा उससे वे प्रथम तो विचलित-से हो गए, पर शीघ्र ही सचेत हो जाग उठे और फारसी का मोह छोड़ उर्दू की उन्नति में लीन हुए। उर्दू की तरक्की के लिये उन्होंने सन् १८६३ ई० में जो साइंटफिक सोसाइटी खोली थी वह किस ढंग पर काम कर रही थी, उसका कुछ पता इसी से चल जाता है कि उसके एक प्रभावशाली गौरांग प्रभु की दृष्टि में हिंदी के टवर्ग भी गड़ रहे थे। वे उन्हें उर्दू से निकाल बाहर करना चाहते थे।

उधर साइंटफिक सोसाइटी उर्दू के उद्धार में लगी थी इधर सैयद अहमदखाँ जज होकर सन् १८६७ ई० में बनारस पहुँच गए और 'वर्नाक्यूलर सोसाइटी' के लिये प्रयत्नशील हुए। कहना न होगा कि सैयद अहमद की दृष्टि में उर्दू ही एकमात्र वर्नाक्यूलर थी, गँवारी हिंदी से उसका कुछ मतलब न था। सैयद अहमदखाँ का भेद बाबू शिवप्रसाद से छिप न सका। निदान विवश हो बाबू साहब को हिंदी की रक्षा के लिये तत्पर होना पड़ा। पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ हम इतना और निवेदन कर देना चाहते हैं कि इसके कुछ पहले ही—

दयानंद सरस्वती पर किया गया है। आशा है, हम सैयद अहमदखाँ के इस स्वरूप को समझने की पूरी चेष्टा करेंगे और उनके अध्ययन से पूरा लाभ उठाकर हिंदी-हित में लीन होंगे।

"हिंदुस्तान के सिक्कों पर इनकी क़ीमत लिखने का जब मामला दरपेश था तो यह फ़ैसला हुआ कि हिंदी और उर्दू हरूफ़ में इसे लिखाना चाहिए।"—(ख़ुतबात पृ० ३७३)

किंतु सैयद अहमद तथा उनके हमजोलियों के कठोर आंदोलन के कारण यह निर्णय निष्फल गया और चाँदी के सिक्कों पर बराबर फारसी बनी रही। कितने आश्चर्य और कितने अन्याय की बात है कि जिस फारसी को सरकार ने सन् १८३७ ई० में अपने दफ़्तर से निकाल दिया और उसकी जगह लोक-भाषाओं को महत्त्व दिया वही फारसी आज भी उसके प्रमाद, अकर्मण्यता अथवा विषम कूटनीति के कारण भारत के प्रधान सिक्कों पर विराजमान है और किसी भी देशी भाषा—यहाँ तक कि उर्दू को भी—पास नहीं फटकने देती। इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि 'हश्त आनः', 'चहार आनः' शुद्ध फारसी हैं न कि हमारे देश की टकसाली उर्दू।

हाँ, तो निवेदन यह करना था कि सामी कट्टरता तथा मज़हबी द्वेष के कारण गार्सां द तासी-सा सपूत समीक्षक भी सन्मार्ग से विचलित हो गया और बात-बात में हिंदी का विरोध करने लगा। एक दिन था कि गार्सां द तासी ने स्वयं अपने पक्ष के एक सज्जन को चेताया था और स्पष्ट कह दिया था कि—

"अगरचे मैं ख़ुद उर्दू का बहुत बड़ा हामी हूँ लेकिन मेरे ख़्याल में हिंदी को 'बोली' कहना मुनासिब नहीं मालूम होता।" (वही पृ० ७००) एक दिन यह भी आ गया कि गार्सां द तासी दाद देने लगे कि—

"इस वक्त हिंदी की हैसियत भी एक बोली की-सी रह गई है, जो हर गाँव में अलग-अलग तरीके से बोली जाती है।"—(वही पृ० ७५४)

कारण प्रत्यक्ष है। गार्सां द तासी का पहला कहना बाबू शिवप्रसाद के उक्त आंदोलन से पहले का है, और दूसरा ठीक उसके बाद का।

गार्सां द तासी की दृष्टि में अब परंपरागत-संपन्न हिंदी भाषा बोली के रूप में रह गई और नागरी लिपि भी फूहड़, भद्दी और व्यर्थ दिखाई पड़ने लगी। उनके विचार में—

"अब रहा रस्म खत का सवाल, तो इस बाबत में भी उर्दू रस्म खत को तरजीह हासिल है, इसलिये कि उसके जरिए से संस्कृत के उन तमाम अल्फ़ाज का पूरी तरह इजहार किया जा सकता है, जो हिंदी में मुस्तमल है।"

इतना ही नहीं, बल्कि "संस्कृत में अलहदः अलहदः चार 'न' आते हैं, उनके तलफ़्फ़ुज़ में कोई फ़र्क नहीं होता और उन सभों के इजहार के लिये अरबी 'न' काफ़ी है।" (वही पृ० ७७२।)

गार्सां द तासी संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ और अरबी-फारसी के पंडित थे। इसलिये इस तरह की ऊटपटाँग बातें लिखकर अपनी अल्पज्ञता का परिचय दे सकते हैं और जानकारों की मंडली में एक विशेष रस का संचार भी कर सकते हैं। परंतु जब उनका यह फरमान निकलता है कि—

"इस अखबार की (शिमला का एक अखबार) जबान उर्दू है लेकिन चूँकि चंदा देनेवालों में कसरत हिंदू लोगों की, इसलिये उन्हें ख़ुश करने के लिये उसकी तबायत देवनागरी रस्म ख़त में होती है।"—(वही पृ० ८१०)

तब हमें आश्चर्य होता है कि गार्सां द तासी जैसे प्रकांड और दूरदर्शी पंडित की प्रतिभा भी सामी कट्टरता के कारण इतनी कुंठित हो गई कि उसे प्रत्यक्ष सत्य भी नहीं दिखाई देता और तिसपर भी तुर्रा यह कि वह तिनके की ओट में पहाड़ छिपा देगी। बस, हमें इस प्रकार के अनर्गल और मायावी प्रलापों से दूर रहकर स्पष्ट यह देख लेना है कि सामी कट्टरता और सांप्रदायिक द्वेष के कारण किस प्रकार जीते-जी दिन-दहाड़े हिंदी को दफनाने की घोर चेष्टा की गई और किस तरह हमारी उदार और नेक ब्रिटिश सरकार ने इस पुण्य कर्म में जी खोलकर हाथ बटाया।

सब से पहले कंपनी सरकार की करनी देखिए। गार्सां द तासी का कथन है—

"ईस्ट इंडिया कंपनी की यह हिकमत-अमली रही थी कि उर्दू को हिंदी से अलहदः तसव्वर किया जाय। चुनांचे उर्दू का जो जदीद अदब उस जमाने में पैदा हुआ, उसमें अरबी-फ़ारसी के अल्फ़ाज़ बराबर इस्तैमाल किए जाते थे, बल्कि उन अल्फ़ाज़ को तरजीह दी जाती थी। इस जदीद अदब की सरकारी मदारिस में भी हिम्मत अफ़ज़ाई की गई।"—(वही पृ० ५४६)

कंपनी की नीति को ब्रिटिश सरकार ने और भी आगे बढ़ाया और उर्दू की पूरी सहायता की। गार्सां द तासी का कहना है :—

"उर्दू की अशाअत में अँगरेजी हुकूमत भी हत्तलमक़दूर माली इम्दाद कर रही है और हर तरह से उसकी हिम्मत अफ़ज़ाई में कोशाँ है।"—(वही पृ० ३०५)

अँगरेजी सरकार की इस उर्दू-निष्ठा का एक और भी प्रबल कारण है। चुनांच गार्सां द तासी फरमाते हैं :—

"हुकूमत-वक्त को इनसे (मुसलमानों से) बड़ा खतरा है। इस वास्ते कि इनमें फिर वही जोश पैदा हो रहा है जिसने इन्हें दुनिया के बड़े हिस्से को फ़तह करने पर उकसाया था।" [उर्दू (वही) पृ० ५७६, जुलाई १९३८ ई० ।

गार्सां द तासी मुस्लिम संकीर्णता का बार बार उल्लेख करते हैं, फिर भी हिंदी-उर्दू-विवाद में उर्दू का ही पक्ष लेते हैं। इसका प्रत्यक्ष कारण तो आसमानी किताब का रिश्ता है, पर वही सब कुछ नहीं है। गार्सां द तासी को धोखा भी बहुत होता है। एक ओर तो सैयद अहमदखाँ तथा उनके हिमायती उर्दू के पक्ष को पुष्ट करने के लिये पूरी निष्ठा से काम करते तथा उनकी भरपूर सहायता करते हैं—उर्दू के पक्ष के सभी अखबारों को उनके पास भेजते तथा भिजवाते हैं। दूसरी ओर हिंदीवाले अपनी कुंभ-कर्णी निद्रा में मग्न हैं। वे किसी प्रकार जगाने पर भी जागते ही नहीं, बल्कि इस तरह की बातें करते जाते हैं जिनसे किसी भी साधु समीक्षक को धोखा हो जाता है।

हिंदी फारसी का उपयोग इसलिये करते थे कि वह राजलिपि थी, पेट भरने और शान से रहने के लिये उसकी जरूरत थी। सरकार उसी पर लट्टू थी, फिर सरकार के पिछलगू पेट्टू उससे किस तरह दूर हो सकते थे? सब कुछ हो जाने पर भी तो वही पुरानी दासता चल रही है, जो पेट और प्रतिष्ठा के लिये फारसी लिपि को छोड़ना पसंद नहीं करती और नागरी की सचाई से दूर भागती है। खैर, गार्सां द तासी का निष्कर्ष है—

"अरबी-फारसी अल्फाज़ को नागरी खत में पढ़ना इससे कहीं ज्यादा दुश्वार है कि संस्कृत के अल्फाज़ को फ़ारसी रस्म खत में पढ़ना। चुनांचः यही वजह है कि बावजूद इस अम्र के कि देवनागरी रस्म खत मुक़द्दस समझा जाता है, अक्सर हिंदू फ़ारसी हरूफ़ तहजी को इस्तेमाल करते हैं, और वह खालिस हिंदी इबारत को फ़ारसी रस्म खत में बिना तकल्लुफ लिखते हैं।" (वही पृ० ४६२)

गार्सां द तासी के उक्त निष्कर्ष से जो लोग सहमत हैं वे शौक से फारसी लिपि को अपनाते रहें और संस्कृत शब्दों को फारसी लिपि में ठीक ठीक लिखा तथा पढ़ा करें। उनसे उलझने की कोई जरूरत नहीं। पर जो लोग फारसी के कारनामे से भली भाँति परिचित हैं और उसकी करामात को अच्छी तरह समझते हैं उनसे हमारा नम्र निवेदन है कि वे तुरंत कृपा कर नागरी लिपि को अपना लें और गार्सां द तासी जैसे कट्टर समीक्षक को यह समझने का अवसर दें कि वास्तव में परिस्थिति क्या है और नागरी लिपि संसार की अन्य लिपियों

से क्यों कहीं बढ़कर और साधु है। स्मरण रहे कि कट्टर मासी भक्त गार्सां द तासी की दृष्टि में भी हिंदी-उर्दू का प्रधान भेद केवल लिपि तथा लिखने के ढंग पर ही अवलंबित है। चुनांचः उनका साफ साफ दावा है कि—

"उर्दू और हिंदी दोनों हिंदुस्तानी की शाखें हैं। दोनों के दर्मियान बस तर्ज तहरीर का फ़र्क़ है। यह फ़र्क़ हिंदुस्तानियों की मजहबी इख्तलाफ पर मबनी है, जिसकी निस्बत मैं बारहाँ तज़किरह कर चुका हूँ।" (वही पृ० ६६४)

अस्तु, हमें पाठकों से कहना है कि हिंद के हित के लिये बस हिंदी तर्ज को स्वीकार करें और देखें कि जमाने की रंगत क्या है, किस तरह उनकी कुंभकर्णी निद्रा से उनका विनाश हो रहा है। याद रहे, यदि वे इस बार भी चूक गए तो कभी कहीं भी उनको ठिकाना न मिलेगा और भारत गारत होकर न जाने क्या बन जाएगा। काल उनकी कायरता को अधिक नहीं सह सकता। वह वीरों को पनपने का अवश्य अवसर देगा।

स्वामी दयानंद और उर्दू

स्वामी दयानंद सरस्वती संस्कृत के पंडित और वैदिक धर्म के आचार्य थे। वे पहले संस्कृत में ही व्याख्यान किया करते थे। उनके एक व्याख्यान का अनुवाद पंडित महेशचंद्र न्यायरत्न ने अशुद्ध किया। उस[1] दिन से उन्होंने निश्चय कर लिया कि 'हिंदी-भाषा-द्वारा ही उपदेश दिया करेंगे।' स्वामीजी ने संस्कृत को छोड़ हिंदी-भाषा को अपने विचारों का माध्यम केवल इसी लिये बनाया कि वह वस्तुतः आर्य या आर्यावर्त की भाषा थी। स्वामीजी उसी को राष्ट्रभाषा समझते थे। विचार करने की बात है कि श्री लल्लूजी लाल, महात्मा गांधी और स्वामी दयानंद सरस्वती ने, जिनकी जन्म-भाषा गुजराती थी, गुजराती का पक्ष न ले हिंदी-भाषा का पक्ष क्यों ग्रहण किया; और क्यों स्वामीजी ने तथा महात्मा गांधी ने अपनी टूटी-फूटी हिंदी में काम करना आरंभ कर दिया। बात यह है कि सचमुच हिंदी ही हिंद की राष्ट्र-भाषा थी और उसी के द्वारा जनता तक अपने विचार व्यक्त किए जा सकते थे। पढ़े-लिखे पंडितों की माध्यम तो संस्कृत-भाषा

१—खेद है कि इस तिथि का निश्चित पता न लगा। अनुमान है कि संवत् १९३१ या उससे कुछ पहले यह घटना घटी होगी। (देखिए महर्षि का संक्षिप्त जीवन-वृत्तांत, शताब्दी संस्करणम् पृ० ३४)।

थी और जनता की लोकभाषा हिंदी थी। यदि इसे और स्पष्ट करना चाहें तो आसानी से कह सकते हैं कि संस्कृत हिंदियों की 'फ़ारसी' और हिंदी हिंदियों की 'उर्दू' थी अर्थात् जिस तरह दरबारी या सरकारी लोगों में फ़ारसी और उर्दू का प्रचलन था, उसी तरह जनता या लोक में संस्कृत और हिंदी का बोलबाला था। स्वामी दयानंद सरस्वती ने यह अच्छी तरह देख लिया कि जिन लोगों से उन्हें काम लेना है और जो सचमुच अंधकार में पड़े हुए हैं उनके उद्धार के लिये उन्हीं की व्यवहार की भाषा से काम लेना उचित है। इतना विचार उठना था कि उन्होंने संकल्प कर लिया कि राष्ट्र-भाषा हिंदी का अभ्यास करो और उसी को अपने व्याख्यानों तथा विचारों की माध्यम बनाओ। स्वामीजी का हिंदी के मैदान में आना था कि हिंदी-भाषा में नवीन जीवन आ गया। वह पनप उठी। यारों ने देखा कि स्वामीजी संस्कृत के पंडित हैं, वैदिक धर्म के प्रचारक हैं, भारत के प्राचीन गौरव का गान करते हैं—संक्षेप में हिंदी के उपासक और आर्य-भाषा के स्तंभ हैं, इसलिये यह हल्ला करना आवश्यक है कि उन्होंने अरबी-फारसी शब्दों का बहिष्कार किया। उनका अनुमान ठीक निकला। बहुत-से विज्ञ भी उनके चकमे में आ गए और यह निश्चित कर लिया कि सचमुच स्वामीजी ने फारसी-अरबी शब्दों को निकाल फेंका है। इतना भी नहीं सोचा कि जो निकाले और फेंके हुए लोगों को भी शुद्ध करके अपने समाज में सम्मिलित कर लेता है वह अपने यहाँ आए हुए शब्दों को क्यों

निकाल फेंकेगा। सारांश यह कि श्री लल्लूजी लाल की तरह स्वामी दयानंद सरस्वती पर भी व्यर्थ ही यह लांछन लगाया गया कि उन्होंने फारसी-अरबी शब्दों का बहिष्कार किया। इस लांछन अथवा अभियोग से यारों का जो हित हुआ उसके निदर्शन की जरूरत नहीं। यहाँ तो इतना दिखा देना काफी है कि स्वामीजी ने फारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग उचित मात्रा और उचित रूप में बिना किसी संकोच के स्वभावतः किया है। इतना ही नहीं, कुछ फारसी और उर्दू के पठन-पाठन का भी विधान किया है। उन्हें देश-निकाला नहीं दिया। परंतु जो लोग नासिख (मृ० सं० १८९५ वि०) के कलाम को राष्ट्रभाषा की कसौटी ठहराते और आँख-कान[1] तक को मतरूक या सलीस उर्दू के बाहर की गँवारी चीज समझते हैं उनके लिये तो स्वामी दयानंद सचमुच कृतांत हैं। उनकी जबान को जरूर देश-निकाला दे दिया। लाख करें, अब वह जबान हमारी जबान नहीं पकड़ सकती। स्वयं उर्दू वालों ने उनकी जबान पर लगाम लगा दी है और उनकी भूलों पर पछता रहे हैं।

हाँ, तो स्वामी दयानंद सरस्वती की जन्म-भाषा हिंदी न थी। हिंदी का उन्होंने अध्ययन भी नहीं किया था। जन्म-भाषा के साथ ही साथ जो राष्ट्र-भाषा का परिचय हो गया था उसी के आधार पर स्वामीजी ने हिंदी-भाषा में लिखना आरंभ

१—जनाब नासिख ने यह फरमान निकाल दिया था कि 'आँख' की जगह 'चश्म' और 'कान' की जगह 'गोश' बाँधो।

कर दिया। उन्हें किसी सनदी जबान की जरूरत नहीं पड़ी। उन्होंने स्वयं[1] लिखा है—

"जिस समय मैंने यह ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' बनाया था उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है इसलिये इस ग्रंथ को भाषाव्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी वार छपवाया।"

स्वामीजी के ग्रंथों में कुछ ऐसे भी हैं जिनकी भाषा पंडितों ने बनाई है। श्री हरविलास सारडा[2] ने ठीक ही कहा कि—

"वेदभाष्यों की संस्कृत तो स्वामीजी महाराज की है, परंतु हिंदी समग्र स्वामीजी के पास काम करनेवाले पंडितों की बनाई हुई है।"

स्वामीजी के पत्रों[3] से पता चलता है कि स्वामीजी को पंडितों

१—सत्यार्थप्रकाश 'द्वितीय संस्करण' की भूमिका का आरंभ।

२—शताब्दी संस्करण, प्रथम भाग, भूमिका पृ० १६।

३—स्वामी दयानंद के 'पत्र-व्यवहार' का संपादन तो स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानंदजी ने किया पर उनके 'पत्र और विज्ञापन' का संपादन श्री भगवद्दत्त (अनुसंधानाध्यक्ष दयानंद कालेज, लाहौर) ने किया। अभी स्वामी दयानंद के बहुत से पत्र अप्रकाशित हैं जिनका प्रकाशन आवश्यक जान पड़ता है।

की भाषा पसंद न आती थी[1]। किसी के लिये लिखते हैं—"यह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता किंतु घास ही काटता है।" तो किसी में दोष निकालते हैं—"अपनी ग्रामीण भाषा लिख देता है।" साथ ही उन मुंशियों को भी सावधान कर देते हैं जो हिंदी को फारसी बनाकर उसे बिलकुल किताबी चीज बना देते हैं।

तभी तो श्री ज्वालादत्त[2] लिखते हैं—"भाषा बनाने के लिये जो गोदगाद शिवदयालु मुंशी से करा रहे हैं यह तनिक शोच-विचार के होना चाहिए। इस भाषा बनाने में बहुत जगह कठिन पड़ती और आगे-पीछे बहुत ख्याल रखने पड़ता। इस काम में जो आपके पास दो बरस न रहा हो और जिसने आपका ठीक सिद्धांत न जाना हो उससे इस भाषा का बनवाना इस काम का ढंग बिगड़वाना है।... फारसी शब्दों के बचाने के लिये गमारू[3] शब्द भी मिल जाय तो गमारू शब्द धर देता हूँ। जहाँ तक बच सकते वहाँ तक बचा भी देता हूँ।"

उक्त अवतरणों के आधार पर आसानी से कहा जा सकता है कि भाषा के संबंध में स्वामीजी का निजी सिद्धांत था फारसी और 'गमारू' से बचकर प्रचलित राष्ट्रभाषा में भाष्य करना।

१—शताब्दी संस्करण, प्रथम भाग, भूमिका पृ० १८।

२—ऋषि दयानंद का पत्र-व्यवहार प्रथम भाग, गुरुकुल काँगड़ी, पृ० ४१६।

३—इसी 'गमारू शब्द' को लक्ष्य करके स्वामीजी ने लिखा था, "अपनी ग्रामीण भाषा लिख देता हैं।" स्वामीजी 'फ़सीह ज़बान' या 'ग्रामीण भाषा' के कायल न थे बल्कि प्रचलित भाषा के भक्त थे।

स्वामीजी के उक्त सिद्धांत को सामने रखकर उनकी भाषा पर विचार कीजिए। आपको स्पष्ट अवगत होगा कि स्वामीजी ने फारसी के किताबी शब्दों और फारसियत को अपनाने की चिंता नहीं की है, बल्कि मुंशियों को उनसे सावधान भी कर दिया है। साथ ही फारसी के उन शब्दों को हाथ से जाने भी नहीं दिया है जो जनता या लोकभाषा के शब्द हो गए हैं। यहाँ यदि हम यह दिखलाने की चेष्टा करें तो उचित होगा, कि स्वामीजी ने निजी, अपने हाथ के पत्रों में कहाँ तक फारसी के शब्दों को जगह दी है और इस बात का जरा भी ख्याल नहीं किया है कि वे शब्द मुसलमानी या आर्यों की गुलामी के वक्त के हैं। स्वामीजी ने 'हिंदू'[1] शब्द को त्याग दिया। इसलिये नहीं कि वह फारसी या इस्लामी शब्द था, बल्कि इसलिये कि उसमें घृणा और अपमान या द्वेष का विधान था और 'आर्य' को इसी लिये अपनाया या चालू किया कि वह वस्तुतः आर्यत्व का द्योतक और मंगल का विधायक था! स्वामीजी से जब आर्यभाषा के प्रचार के लिये अनुरोध किया गया तब उन्होंने आर्यसमाजों को[2] लिखा—

१—हिंदू शब्द के सांकेतिकार्थ हैं 'काला, लुटेरा और गुलाम।' देखिए ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन द्वि० भा०, पृ० ७१—पंजाब आर्ट प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर, सन् १६१६ ई०।

२—पत्र और विज्ञापन चतुर्थ भाग पृ० ३६, विद्याप्रकाश प्रेस लाहौर, सन् १६२७ ई०।

"यह बात बहुत उत्तम है क्योंकि अभी कलकत्ते में इस विषय की (स्कूलों में कौन-सी भाषा पढ़ाई जाय) सभा हो रही है। इसलिये जहाँ तक बने वहाँ शीघ्र संस्कृत और मध्यदेश की भाषा के प्रचार के वास्ते, बहुत प्रधान पुरुषों की सही कराके कलकत्ते की सभा में भेज दीजिए और भिजवा दीजिए।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि स्वामीजी के सामने कभी फारसी-अरबी शब्दों के बहिष्कार का प्रश्न होता तो इस समय अवश्य ही 'वास्ते' और 'सही' को जगह न देते और अनायास ही 'हेतु' और 'हस्ताक्षर' लिख जाते। परंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। कारण प्रत्यक्ष है। उन्हें मुसलिम शब्दों से चिढ़ न थी। वे उन्हें भी प्यार की दृष्टि से देखते और आर्यभाषा का अंग समझते थे; आर्यभाषा के भीतर आ जाने से उन्हें भी आर्य ही समझते थे। स्वामीजी की दृष्टि में 'वास्ते प्रचार' अनार्य और 'प्रचार के वास्ते' आर्य था। किंतु पत्र-व्यवहार में इस प्रकार की भाषा को अनुचित नहीं समझते थे। क्योंकि कागजात[1] का जो अर्थ

१—उर्दू में बहुवचन तीन तरह से बनते हैं—हिंदी, फारसी और अरबी। जो लोग हिंदी और उर्दू के व्याकरण को एक ही बताते हैं उन्हें इस पर विचार करना चाहिए और यह सिद्ध कर देना चाहिए कि हिंदी में भी उसी प्रकार के बहुवचन बनते हैं अथवा उसी मात्रा में संस्कृत के बहुवचन काम करते हैं। सच तो यह है कि उर्दू के व्याकरण ने भी बहुत कुछ उसे विदेशी बना दिया, चाहे आप उसे स्वदेशी ही समझें।

निकलता है वह कागजों या कागदों में नहीं है। इसी लिये[१] लिखते हैं—

"यहाँ हमारे पास सिवाय एक रजष्टर के दूसरा कागजात कुछ भी नहीं है।"

इसे स्वामीजी की कचहरी की भाषा समझना चाहिए। कचहरी या हिसाब-किताब की भाषा में फारसी-अरबी के शब्दों की भरमार है। स्वामीजी ने उनका ठीक उसी प्रकार प्रयोग किया है, जिस प्रकार अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों का। उदाहरण के लिये उनका यह कथन[२] लीजिए—

"बिल के रुपैयों की पहुँच की रसीद न होने और रसीदों के बिल न होने से जालसाजी उसकी विदित हो जाएगी। और उसकी चिट्ठियों से निश्चित है कि कलकत्ते का हिसाब चुकता कर दिया, तो बिल का होना और रसीदों का न होना सिवाय चोरी के क्या कह सकते हैं।"

स्वामीजी उर्दू से अनभिज्ञ थे। उस समय उर्दू का राज्य था। वह सरकारी जबान थी। स्वामीजी को भी उर्दू में खतकिताबत करनी पड़ती थी। जो लोग हिंदी-उर्दू में केवल शब्दकोष का अंतर समझते हैं उन्हें उर्दू की तरकीब और हिंदी की पदयोजना पर ध्यान देना चाहिए। इन्हीं स्वामी दयानंद

१—पत्र और विज्ञापन, तृ० भाग पृ० ३५।—ऐंग्लो ओरियंटल प्रेस, लाहौर, सन् १९२७ ई०।

२—वही पृ० ४७।

के 'उर्दू खत'[1] की उर्दू पर ध्यान दीजिए और भूल न जाइए कि पद-विन्यास क्या है—

"हस्बुल ईमा आपके मैं यहाँ चंद्रिका तलाश कर रहा हूँ। अनकरीब वशरते दस्तयाबी अरसाल खिदमत होगी। कैफ़ीयत यहाँ की यह है कि जमीअ असबाब छापेखाने का मय कागज रौशनाई व प्रूफ-सीट वगैरा के कलकत्ता से यहाँ आ गया।"

आप कहीं यह न समझ लें कि यह खत किसी मौलाना के पास भेजा गया था और इसी लिये इसकी भाषा को यह रूप दिया गया। नहीं, कदापि नहीं। यह पत्र एक आर्य मुंशी इंद्रमन साहब के नाम भेजा गया था जो आर्यसमाजी और स्वामीजी के दल के आदमी थे। बात यह थी कि उस समय सरकार की ओर से उर्दू को इतनी मदद मिल रही थी कि लोग जीविका और प्रतिष्ठा के लिये उसी को अपनाते थे। स्वामीजी के उपदेश से बहुत-से मसिजीवी और सभ्य लोग वैदिक तो बन गए, पर उर्दू के साथ ही आर्यभाषा न सीख सके। इसलिये स्वामीजी को उनके पास उर्दू में पत्र भेजना पड़ा। इस उर्दू का मतलब था फारसी का[2] वारिस न कि देश-भाषा। इसको समझने के लिये फारसी का

१—पत्र और विज्ञापन चतुर्थ भाग पृ० २।

२—मौलाना अब्दुल हक साहब ने 'उर्दू' जनवरी सन् १९३३, पृ० १४ में फरमाया है—"जिस तरह बाप का जानशीन बेटा होता है उसी तरह फ़ारसी की क़ायम मुक़ाम उर्दू हो गई।"

जानना अनिवार्य था। निदान स्वामीजी को लाला जीवनदास से कहना[1] पड़ा—

"यहाँ पारसी खत पढ़नेवाले बहुत कम हैं, इँग्लिश के पाठक बहुत हैं। इसलिये जब कभी लिखें तब नागरी वा इंगरेजी में लिखें। इस पत्र का मतलब हम ठीक ठीक नहीं समझते हैं।"

स्वामीजी पर दया कर कुछ उर्दू-भक्तों ने हिंदी लिखने का साहस किया। चुनांचे जुवाहरसिंह[2] लिखते हैं—

"मुझे हिंदी लिखनी नहीं आती। यदि लिखता हूँ तो बहुत अशुद्ध लिखी जाती है जैसे इस पत्र से विदित होगा। यिस कारण उर्दू वा अँगरेजी में पत्र लिखता रहा हूँ और अब भी अँगरेजी में लिखने लगा था। प्रंतु जैसे आई वैसे लिख दी यिस कारण कि शायद तकलीफ न हो।"

अब तक आपके सामने जो सामग्री आई है उससें कहीं भी इस बात का संकेत नहीं है कि स्वामीजी उर्दू या फारसी-अरबी शब्दों के शत्रु थे। जुवाहरसिंह के कहने से यह मान लेना चाहिए कि सहूलियत और आसानी के लिये लोग हिंदी को अपनाने लगे थे और स्वयं स्वामीजी से निवेदन करने लगे

जो लोग उर्दू को राष्ट्रभाषा या मुल्की जबान मानते हैं उन्हें तनिक ठंडे दिल से इस पर विचार करना चाहिए।

१—पत्र और विज्ञापन प्र० भाग पृ० ३६।

२—पत्र व्यवहार प्रथम भाग पृ० १२६।

थे कि देवनागरी में लिखाकर भेजें। सेवकलाल कृष्णदास का[1] अनुरोध है—

"आपके आने विना समाज का मंदिर होना कठीन है और सब समाजों का अँगरेजी व हिंदि में (देवनागरी लिपि में) लिखा के कृपा कर भेज देना।"

हिंदी की व्याख्या में देवनागरी-लिपि का निर्देश इसलिये करना पड़ा कि दक्षिण में यही हिंदी फारसी-लिपि में दक्खिनी के रूप में प्रचलित थी और उर्दू हो जाने पर भी कभी कभी हिंदी के नाम से याद की जाती थी। हैदराबाद ने आज इसकी जगह फसीह उर्दू को पसंद कर लिया है, नहीं तो आरंभ में वहाँ 'दक्खिनी' हिंदी का ही प्रचार था। प्रसंगवश इतना स्पष्ट करने की जरूरत इसलिये पड़ी कि वस्तुतः हिंदी ही राष्ट्र-भाषा थी और इसी लिये उसके जानकार मुंबई में भी मौजूद थे, जो हिंदी को देवनागरी में पढ़ते-लिखते थे, फारसी में नहीं।

हिंदी ही नहीं, संस्कृत में भी पत्र लिखने के लिये स्वामीजी से आग्रह किया जाता था। खानदेश के लक्ष्मण गोपाल देश-मुख की[2] आशा है—

"हम इच्छा करते हैं कि आपके पत्र हमकु सब संस्कृत में आवे सो इच्छा आप पूर्ण कीजिए। इससे हमकु भी संस्कृत पत्र-व्यवहार का मार्ग समजा जाएगा।"

१—पत्र व्यवहार प्रथम भाग पृ० २५०।

२— ,, ,, पृ० २४५।

इतने पर भी यदि लोग यही कहें कि स्वामीजी हिंदी और संस्कृत को 'बिला वजह, बग़ैर ज़रूरत' राष्ट्र पर लादना चाहते थे तो उनसे हम क्या कहें। उनका इलाज तो हमारे पास नहीं है। पर जो लोग सत्यनिष्ठ और हकपरस्त हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि शांतचित्त से प्रश्न पर विचार करें और ठंडे दिल से सोचें कि असलियत क्या है। क्यों स्वामीजी पर यह लांछन[1] लगाया गया कि

"वह तरह तरह से अपनी नई हैसियत और इन्फ़रादियत जताने लगे। और जिस तरह एक बेवक़ूफ़ औरत ने अपनी ख़ूबसूरत अँगूठी दिखाने की ख़ातिर घर को आग लगा दी थी, उन्होंने भी बने-बनाए घर को बिगाड़ना शुरू किया। सबसे पहले नज़ला उर्दू ज़बान पर गिरा।"

जिस देश में बैठकर आज उर्दू के परम प्रचारक मौलाना अब्दुल हक़ उर्दू को मुल्की ज़बान का ख़िताब दे रहे हैं उसी देश से स्वामीजी के पास पुकार आती है कि 'हिंदी, देवनागरी लिपि

१—आल इंडिया मुसलिम एजूकेशनल कान्फरेंस की उर्दू-कान्फरेंस में २८ अप्रेल सन् १९३७ ई० के व्याख्यान में अलीगढ़ में मौलाना अब्दुल हक ने यह दावा पेश किया और फिर उसी महीने की 'उर्दू' पत्रिका में छापा। कहने की जरूरत नहीं कि मौलाना हक एकता के प्रेमी और राष्ट्र के भक्त हैं। मुल्की ज़बान के फ़ैसले के लिये नेताओं से बराबर मिलते रहते हैं और 'हिंदी-हिंदुस्तानी' को 'कूट-नगर' का रास्ता बताते हैं।

में', 'पत्रव्यवहार संस्कृत में' हो। अस्तु, इस प्रसंग को यहीं छोड़िए और देखिए कि उर्दू पर कौन-सा नज़ला गिरा। स्वामीजी ने उर्दू के लिये क्या किया, इसे भी देख लें। संस्कृत के प्रचार को सामने रखते हुए स्वामीजी[1] लिखते हैं—

"अब इसके साधनार्थ यह होना चाहिए कि कुल पठन-पाठन समय के छः घंटों में ३ घंटे संस्कृत २ घंटे अँगरेजी और १ घंटा उर्दू फारसी पढ़ाई जाया करें।" ध्यान देने की बात है कि स्वामीजी ने 'हिंदी' या आर्य-भाषा का विधान न कर 'उर्दू' का उल्लेख किया है। कारण स्पष्ट है। हिंदी का सामान्य ज्ञान सबको था। संस्कृति के बोध के लिये संस्कृत और सरकार तक पहुँच के लिये अँगरेजी और उर्दू की जरूरत थी। फारसी के बिना उर्दू का काम ही न चलता, क्योंकि वह 'फ़ारसी की क़ायममुक़ाम' थी। इसलिये उसका भी पठन-पाठन आवश्यक था। इस बात का पता पंडित ज्वालादत्तजी के पत्र से चल जाता है। स्वामीजी ने उनसे फारसी पढ़ने को कहा था। उन्होंने फारसी पढ़ना उचित समझा था, पर किसी कारणवश आरंभ नहीं किया। निदान[2] लिखते हैं—

"पढ़ने के लिये जो आपसे मैं कह आया था सो फारसी तो मुंशीजी से नहीं पढ़ी और संस्कृत का अभी प्रारंभ नहीं किया।"

१—पत्र और विज्ञापन च० भाग पृ० २८।

२—पत्रव्यवहार प्र० भाग पृ० ४१८।

समझ में नहीं आता कि हम उन लोगों की क्या दवा करें जो स्वामीजी पर इस तरह का लांछन लगाते हैं और अपने घर की बात नहीं देखते कि आज भी राष्ट्रभाषा या 'मुल्की ज़बान' के नाम पर किस प्रकार उर्दू में फारसी-अरबी की तरकीब भरी जाती है और हिंदी तथा भाषा का नाम तक मिटाना[1] इष्ट समझा जाता है। स्वामीजी ने एक अपराध अवश्य किया। वह सीधा और प्रत्यक्ष अपराध यह था कि वे भी चाहते थे कि सरकार देश की भाषा हिंदी को अपने यहाँ जगह दे और उर्दू के रूप में प्रच्छन्न फारसी से निरीह जनता को मुक्त करे। प्रच्छन्न फारसी से कुढ़ें नहीं, बल्कि उस मसविदा पर ध्यान दें जो स्वामीजी की ओर से सरकार में पेश किया गया था। उसका एक अंश[2] है—
"लिहाज़ा बावजूद मलहूज़ रखने तमामतर एज़ाज़ और आदाब क़ानून मज़कूर हस्बज़ैल इलतमास करता हूँ, कि अगरचे एक्ट मज़कूर का असली मंशा सरीह इंसाफ़ और मसलिहत आमा क़ायिम करना और हिंदुओं के असली और इन्साफ़ी क़ानून को

१—उर्दू की जगह हिंदुस्तानी का प्रयोग इसी लिये जोर शोर से सामने आ रहा है कि वह हिंदी की हस्ती को हिंदुस्तानी के नाम पर आसानी से मिटा सके। उसके भ्रम में कहीं हम हिंदी को खो न बैठें, इसलिये खरी कसौटी पर कस कर उसको राष्ट्रभाषा का वाचक बनाना चाहिए।

२—पत्र और विज्ञापन द्वि० भाग पृ० ७४-५।

बमुक़ाबला जायिज़ रस्मोरिवाज के बुनियाद के तरजीह देता है और उसकी तासीर से बेबगान हनूद के झूठे रस्मोरिवाज की पाबन्दी से बचा कर आदिल गवर्नमेंट ने क़ानूनी हक़ उनका बहाल फ़रमाया है।"

यह तो स्वामीजी का आर्य मसविदा[1] है। 'फ़सीह मसविदा' का सामना करना हो तो कचहरी में पहुँच जाइए और अपनी उस मुल्की ज़बान को पहचान लीजिए जो आपकी मादरी ज़बान है। आज नहीं तो कल यही आपके घर की बोली होगी। आज तक खेल में आप 'चे मे' कहा कर छोड़ दिए जाते थे, पर अब सचमुच आपको इसी 'चे मे' का जाप करना होगा। इसी से रोटी नसीब होगी। स्वामीजी के सामने इस रोटी का प्रश्न न था। वे आर्यावर्त की उन्नति चाहते थे और आर्यावर्त की उन्नति में विश्व की उन्नति समझते थे। तभी तो स्पष्ट कहते हैं[2]—

"हम लोगों का तो यही अभीष्ट, यही कामना और यही उत्साह है कि उसकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी।" तथा

"[3]हमने केवल परमार्थ और स्वदेशोन्नति के कारण अपने समाधि और ब्रह्मानन्द को छोड़ कर यह कार्य ग्रहण किया है।"

१—आर्यसमाजियों की उर्दू आर्यसमाजी उर्दू के नाम से पुकारी जाती है और नजीबों को खटकती है।

२—पत्र और विज्ञापन प्र० भाग, पृ० ६६।

३— ,, ,, च० भाग, पृ० १८।

अस्तु, परमार्थ और स्वदेशोन्नति के लिये स्वामीजी अनिवार्य समझते थे कि प्रच्छन्न फारसी यानी उर्दू की जगह आर्य यानी आर्यावर्त (हिंदुस्तान) की भाषा हिंदी का प्रचलन हो। याद रहे, स्वामीजी की आर्यभाषा या हिंदी का अर्थ है हमारी वह राष्ट्र-भाषा जिसमें "मिलै संस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रगट जु होय।"[१] यही कारण है कि उनके धार्मिक और पवित्र ग्रंथों में भी फारसी-अरबी के शब्दों का प्रयोग हुआ है और उनसे कभी किसी प्रकार का परहेज नहीं किया गया है। प्रसंग के अनुसार स्वामीजी ने किस तरह फारसी-अरबी के कितने शब्दों का प्रयोग किया है, इसको अच्छी तरह जानने के लिये उनके ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए। फिर भी पाठकों की जानकारी के लिये हम यहाँ कुछ अवतरण देते हैं और यह जानना चाहते हैं कि स्वामीजी उन्हें किस रूप में रखते कि उर्दू पर नजला गिराने और फारसी-अरबी शब्दों के देश-निकाले के अभियोग से बच जाते और राष्ट्रभाषा के पोषक माने जाते। स्वामीजी संस्कृत के पंडित और फारसी तथा उर्दू से बिलकुल अनभिज्ञ थे। वे स्वयं[२] कहते हैं—

"जो क़ुरान अर्बी भाषा में है उस पर मौलवियों ने उर्दू में अर्थ लिखा है। उस अर्थ का देवनागरी अक्षर और आर्य-भाषांतर करा के पश्चात् अर्बी के बड़े बड़े विद्वानों से शुद्ध

१—काव्यनिर्णय, भिखारीदास।

२—सत्यार्थप्रकाश अनुभूमिका ४ पृ० ७०३।

करवा के लिखा गया है। यदि कोई कहे कि यह अर्थ ठीक नहीं है तो उसको उचित है कि मौलवी साहबों के तर्जुमों का पहिले खंडन करे पश्चात् इस विषय पर लिखे।"

इस्लाम के समीक्षक की भाषा का नमूना[1] यह है—

"जब मुसलमान लोग सिवाय .खुदा के किसी के साथ ईमान नहीं लाते और न किसी को .खुदा का साझी मानते हैं तो पैगंबर साहेब को क्यों ईमान में .खुदा के साथ शरीक किया? अल्लाह ने पैगंबर के साथ ईमान लाना लिखा इसी से पैगंबर भी शरीक हो गया।"

गया के पंडों को इन शब्दों में याद[2] करते हैं—

"जो लोग आँख के अंधे गाँठ के पूरे उनके जाल में जा फँसते हैं उनको गयावाले उलटे उस्तरे से खूब हजामत बनाते हैं।"

बस, स्वामीजी की भाषा का कथावाला नमूना भी देख[3] लीजिए—

"कभी एक आधी रात में किसी साहूकार का नौकर एक हजार रुपयों की थैली लेके किसी साहूकार की दुकान पर जमा करने को जाता था। बीच में उचक्के आकर रुपयों की थैली छीन कर भागे। उसने जब पुकारा तब थाने के सिपाहियों ने आकर पूछा कि क्या है? उसने कहा कि अभी उचक्के मुझसे

१—सत्यार्थप्रकाश शताब्दी संस्करण पृ० ७३०।

२— ,, श० सं० पृ० ६२९-३०।

३— ,, शताब्दी संस्करण पृ० ७६३।

रुपयों को छीन कर लिए जाते हैं। सिपाही धीरे धीरे चल के किसी भले आदमी को पकड़ लाए कि तू ही चोर है। उसने उनसे कहा कि मैं फलाने साहूकार का नौकर हूँ चलो पूछ लो।"

चलो चलें, हम भी नामधारी राष्ट्रप्रेमियों से पूछ लें कि स्वामीजी की यह भाषा राष्ट्रभाषा या हिंदुस्तानी है अथवा नहीं। यदि है तो आप स्वामीजी पर यह अभियोग क्यों चलाते हैं कि उन्होंने फारसी-अरबी के शब्दों को देश-निकाला दे दिया? यदि नहीं तो कृपा कर उस 'हिंदुस्तानी' का नमूना पेश कर दीजिए जिसे आप सचमुच राष्ट्रभाषा समझते हैं। यदि आप सचमुच उसी उर्दू को हिंदुस्तानी या मुल्की जबान समझते हैं जो सरकार में या कचहरियों में बरती जाती है और जो मुल्की जबान की उपाधि से दफ्तरों[१] में दाखिल हुई है तो हमें आपसे स्पष्ट कह देना है कि वह हिंदी नहीं, हिंदुस्तानी नहीं, उर्दू यानी प्रच्छन्न फारसी है। वह राजभाषा भले ही बनी रहे, पर हमारी राष्ट्रभाषा तो नहीं बन सकती। हमारी राष्ट्रभाषा सदा से हिंदी रही है और आज भी वही है। हिंदी ने सदा से फारसी-अरबी के 'प्रकट' शब्दों को अपनाया है और स्वामीजी ने अपनी आर्य-भाषा में उनका विधान भी किया है। आँख खुले अंधों को सुझा देना हमारा काम नहीं; वह तो हक की बरकत है। देखनेवाले देखें और सुननेवाले सुनें।

१—उर्दू सन् १८३८ ई० में फारसी की जगह सरकारी दफ्तरों में दाखिल हुई।

एक पाई सीका

आज बहुतों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि कभी अँगरेजी सरकार ने भी पैसे पर हिंदी अक्षरों को स्थान दिया था और फिर न जाने किस प्रमाद में आकर उन्हें अपने सिक्कों से उड़ा दिया। हो सकता है, यह भी उसकी 'प्रभुता' का ही प्रसाद हो, जो अभी तक किसी न किसी रूप में प्रति दिन मिलता ही रहता है। आज ताँबे के पैसे पर न तो फारसी हरफ दिखाई देते हैं और न नागरी अक्षरों के ही दर्शन होते हैं। पर कभी वह दिन भी था कि अँगरेजी सरकार ने स्वतः विधान बनाया था कि—

"ऊपर के लिखे हुए पैसे का मंडल ऐसा होगा कि एक इंच याने अँगूठे के पहले पोर को २० हिस्सा फर्ज करके उसके १९ हिस्से का खत मंडल को आधोआध कर सकेगा और उसका वजन आठ आने नौ पाई सिक्के भर होगा और उस पर नीचे की लिखी इबारत फारसी और नागरी हरफों से जरब की जाएगी।"

तफसील

पैसे के एक तरफ फारसी हरफों में 'सन् ३७ जुलूस शाह आलम बादशाह।'

उसके दूसरी तरफ फारसी और नागरी हरफों में 'एक पाई सीका' (अँगरेजी सन् १८०९ साल १० आईन ३ दफा)

कहना न होगा कि कंपनी सरकार की आज्ञा के अनुसार कलकत्ते की टकसाल में उक्त 'सीका' ढाला गया और उस पर नागरी अक्षरों में लिखा गया ।—"एक पाई सीका" ।

इतना ही नहीं, टकसाल के साहब ने उस पर कुछ और भी कृपा की और अपनी ओर से उस पर एक त्रिशूल भी बना दिया । यह त्रिशूल पैसे के दोनों ओर बना है । एक ओर फारसी के 'जुलूस' की 'सीन' पर है, तो दूसरी ओर फारसी के 'एक' के 'काफ' पर । मतलब यह कि वह फारसी लिपि या मुसलिम संस्कृति का विरोधी नहीं समझा गया है, बल्कि उससे यह बताया गया है कि यह 'बनारस के मुल्क' का पैसा है । उस 'बनारस के मुल्क का' जिसकी मुख्य नगरी (बनारस) शिवजी के त्रिशूल पर टिकी है, वही वहाँ का राजचिह्न है ।

देखने की बात है कि अँगरेजी सरकार की इस व्यवस्था में कितना मर्म छिपा है । इसमें कितनी एकता दिखाई देती है । होता भी क्यों नहीं ? आखिर पहले के परम स्वतंत्र, कट्टर, गाजी मुसलिम बादशाहों ने भी तो हिंदू चिह्नों और हिंदी लिपि तथा भाषा को अपनाया था । सिक्कों की कौन कहे, मसजिदों तक में संस्कृत को स्थान दिया था । हाँ, उसी संस्कृत को जो आज 'संसकिरित' के नाम से ठुकराई जा रही है और जीते-जागते मरी-गली क्या सड़ी तक साबित की जा रही है । क्या अब भी आपको यह मान लेने में कोई अड़चन दिखाई देती है कि आगे चलकर प्रमादवश ब्रिटिश सरकार ने नागरी को उड़ाकर उसे रसातल भेजने की निंदनीय चेष्टा की और व्यर्थ

में हिंदी-उर्दू का नया झगड़ा खड़ा कर दिया। क्या अब हम नागरी के विरोधियों से यह जानने की धृष्टता कर सकते हैं कि उस समय क्यों उन्होंने अँगरेजी सरकार के उक्त विधान को स्वीकार कर लिया और किसी तरह का कोई आंदोलन खड़ा नहीं किया?

याद रहे, उस समय अँगरेजी सरकार देहली सरकार के अधीन थी और उसी की ओर से शासन कर रही थी। और आज यह उसी अधीनता का परिणाम है कि चाँदी के सिक्कों पर किसी भी देशभाषा को स्थान नहीं मिला और फारसी बदस्तूर उन पर बनी रही। जो लोग रुपए पर फारसी लिपि को देखकर उसे उर्दू समझ लेते हैं उन्हें याद रखना होगा कि 'यक रुपयः' उर्दू नहीं बल्कि शुद्ध फारसी है। यदि विश्वास न न हो तो टुक 'हश्त आनः' और 'चहार आनः' पर गौर कर लीजिए और गिलट के सिक्कों पर 'एक आनः' और 'चार आनः' देख लीजिए। यदि 'यक', 'हश्त' और 'चहार' उर्दू हैं तो उनका फारसी रूप क्या होगा, कुछ इसका भी विचार है? भई, होश सँभालो और वह कदम उठाओ जिससे दुनिया में कुछ होके जी सको, नहीं तो सिक्कों पर दुहरी गुलामी की छाप तो है ही। वह अपने आप तो मिटने से रही। हाँ, आपको अवश्य मिटा देगी।

उर्दू की हिंदुस्तानी

'उर्दू' अथवा 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के अर्थ को ठीक ठीक ग्रहण करने के लिये यह आवश्यक है कि हम मीर अमन देहलवी के उस कथन को उद्धृत करें जिसमें उन्होंने 'उर्दू की ज़बान' की चर्चा की है और 'उर्दू-ए-मुअल्ला' की सीमा भी बहुत कुछ निर्धारित कर दी है। उनका कथन[1] है—

"जब हज़रत शाहजहाँ साहबे क़ेरान ने क़िला-मुबारक और जामा मसजिद और शहरपनाह तामीर फ़रमाया......तब बादशाह ने ख़ुश होकर जश्न फ़रमाया और शहर को अपना दारुल-ख़िलाफ़त बनाया तब से शाहजहानाबाद मशहूर हुआ......और वहाँ के शहर को उर्दू-ए-मुअल्ला ख़िताब दिया। ...निदान ज़बान उर्दू की मँजते मँजते ऐसी मँजी कि किसी शहर की बोली उससे टक्कर नहीं खाती।" (पृ० ५।)

मीर अमन की इतिहास की जानकारी पर ध्यान देना व्यर्थ है। यहाँ तो इतना जान लेना ही काफी है कि मीर अमन 'उर्दू-ए-मुअल्ला' तथा 'उर्दू' को किसी लश्कर या बाजार के संकेत

१—मीर अमन के सभी अवतरण 'बाग़-वो-बहार' नामकी उनकी प्रसिद्ध पुस्तक से लिए गए हैं। इस पुस्तक का एक दूसरा नाम 'क़िस्सः चहार दरवेश' भी है। यहाँ पर जो अवतरण दिए गए हैं वे मुंशी नवलकिशोर प्रेस के सन् १९२० ई० वाले संस्करण से हैं।

के रूप में न लेकर केवल शाहजहानाबाद के एक खास टुकड़े के अर्थ में ले रहे हैं जिसकी जबान को 'उर्दू की ज़बान' कहते हैं।

'उर्दू की ज़बान' के विषय में मीर अमन का खुद दावा है कि उनकी 'ज़बान' 'सनद' है। उनका कहना है:—

"सच है बादशाहत के इक़बाल से शहर की रौनक़ थी। एकबारगी तबाही पड़ी। रईस वहाँ के मैं कहीं और तुम कहीं होकर जहाँ जिसके सींग समाए वहाँ निकल गए। जिस मुल्क में पहुँचे वहाँ के आदमियों के साथ-संगत से बातचीत में फ़र्क़ आया और बहुत ऐसे हैं कि दस-पाँच बरस किसी सबब से दिल्ली में गए और रहे। वे भी कहाँ तक बोल सकेंगे। कहीं न कहीं चूक ही जावेंगे। और जो शख्स सब आफ़तें सहकर दिल्ली का रोड़ा होकर रहा और दस-पाँच पुश्तें उसी शहर में गुज़रीं और उसने दरबार-उमरावों के और मेले-ठेले उर्स छड़ियाँ, सैर व तमाशा और कूच:गरदी उस शहर की मुद्दत तलक की होगी और वहाँ से निकलने के बाद अपनी ज़बान को लिहाज़ में रखा होगा उसका बोलना अलबत्त: ठीक है।" (वही पृ० ५।)

मतलब यह कि मीर अमन की जबान हर तरह से 'मुस्तनद' और 'फ़सीह' होने का कुदरती हक रखती है। उनके 'नजीब' और 'फ़सीह' होने में किसी को शक नहीं।

मीर अमन की जबान के बारे में बहुतों[1] की वही राय है जो स्वयं उन्होंने इस प्रकार प्रकट की है। उनकी इस मुस्तनद

१—सर सैयद अहमदखाँ से लेकर डाक्टर मौलाना अब्दुल हक तक जिस किसी का अध्ययन कीजिए, आपको स्पष्ट अवगत होगा कि वे

जबान पर संस्कृत के कितने और कैसे-कैसे शब्द नाच रहे थे इसका पूरा पूरा पता बताना तो इस समय असंभव है। हाँ, इतना आसानी से किया जा सकता है कि उसका कुछ आभास दिखा दिया जाय और पाठकों से यह जान लेने की इच्छा प्रकट कर ली जाय कि आखिर आज हम क्यों उन्हें अपनी जबान से अलग कर दें? उनका और अधिक उपयोग क्यों न करें? सुनिए, मीर अमन का कहना है "सो अब ख़ुदा ने बाद मुद्दत के जान गिलक्रिस्ट साहब बहादुर सा दाना नुक्तःरस पैदा किया कि जिन्होंने अपने ज्ञान और उक्ति से और तलाश और मेहनत से क़ाअदों की किताबें तसनीफ़ कीं। इस सबब से हिंदुस्तान की ज़बान का मुल्कों में रवाज हुआ और नए सिर से रौनक़ ज़्याद: हुई।" (वही पृ० ५।)

अँगरेज़ों अथवा ब्रिटिश सरकार ने किस तरह उर्दू को बढ़ाया, इसका विचार यहाँ आवश्यक है। यहाँ हमें 'ज्ञान और उक्ति' को नोट कर लेना है और समय पड़ने पर यह याद दिला देना है कि यह उर्दू का 'ठेठ हिंदुस्तानी' शब्द है जिसे "उर्दू के लोग हिंदू-मुसलमान, औरत, मर्द, लड़के-बाले, ख़ास-ओ-आम आपस में बोलते चालते हैं।"—(वही पृ० २)

मीर अमन की ठेठ जबान के कायल हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् गार्सां द तासी को तो उसका पाठ्य-पुस्तकों से निकाला जाना खल सा गया था। उनकी दृष्टि में 'हिंदुस्तानी' की उचित शिक्षा के लिये उसका पाठ्य-क्रम में बना रहना अनिवार्य था।

मीर अमन की 'उर्दू की ठेठ हिंदुस्तानी' में शुद्ध संस्कृत शब्दों का कितना प्रयोग था, तनिक यह भी देख लीजिए। 'मुल्क ज़ेरबाद की रानी का क़िस्सः' ले लीजिए। आरंभ में ही आपको दिखाई देगा:—

"मैं कन्या ज़ेरबाद के देस के राजः की हूँ और वह गबरू जो जंदान-सुलेमान में क़ैद है उसका नाम बहरहमंद है, मेरे पिता के मंत्री का बेटा है। एक रोज़ महाराज ने आग्या दी कि जितने राजः और कुँवर हैं मैदान में जेर झरोके आकर तीर-अंदाज़ी और चौगानबाज़ी करें तो घुड़चढ़ी और कसब हर एक का ज़ाहिर हो। मैं रानी के नेरे जो मेरी माता थीं अटारी-ओझल में बैठी थी और दाइयाँ और सहेलियाँ हाज़िर थीं। तमाशा देखती थीं। यह दीवान का पूत सब में सुंदर था और घोड़े को कावे देकर कसब कर रहा था। मुझको भाया और दिल से उस पर रीझी। मुद्दत तलक यह बात गुप्त रही। आख़िर जब बहुत व्याकुल हुई तब दाई से कहा और ढेर सा इनाम दिया।"—(वही पृ० ८६)

अस्तु, हिंदुस्तानी का जो नमूना सामने है उसमें यद्यपि देश को 'देस' और राजा को 'राजः' कर दिया गया है और इस प्रकार अपने विदेशी अथवा उर्दूपन की पूरी पूरी परख दी गई है तथापि यह आज की राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी का सच्चा नमूना नहीं हो सकता। क्योंकि इसमें कन्या, पिता, मंत्री, माता, सुंदर, गुप्त और व्याकुल जैसे अत्यंत प्रचलित और जीते जागते शुद्ध संस्कृत शब्द आ गए हैं जिनको आज उर्दू के धनी मतरूक

कर चुके हैं और फलतः अपनी 'मुल्की जबान' में उनको देखना गुनाह समझते हैं। दूसरी ओर उसमें 'नेरे', 'घुड़चढ़ी', 'भाया', 'ढेर' और 'रीझी' आदि जैसे गँवारू शब्द भी आ गए हैं। फिर भला जबान के उस्ताद इसे क्योंकर अपनी मुल्की जबान मान लें! यह तो गुलामों की भाषा के शब्द हैं।

जो हो, मीर अमन ने कुछ इसका ध्यान अवश्य रखा है कि उनकी 'उर्दू की हिंदुस्तानी' में कुछ हिंदियत भी जरूर हो। निदान हिंदू-मुसलिम एकता की एकाध झलक दिखा देने में उनको कोई क्षति नहीं दिखाई देती। चुनांचे एक जगह लिखते हैं—

"बहन ने......इमाम जामिन का रुपयः मेरे बाजू पर बाँधा दही का टीका[१] माथे पर लगाकर, आँसू पीकर बोली, "सिधारो तुम्हें .खुदा को सौंपा। पीठ दिखाए जाते हो इसी तरह जल्द अपना मुँह दिखाइयो।"—(वही पृ० १५)।

'दही का टीका माथे पर' देखने का हौसला किसे न होगा, पर यहाँ तो कलंक का टीका ही दिखाई दे रहा है। समय का फेर है। देखिए—

१—वहाबियों के घोर आंदोलन ने इस ढंग की हिंदियत का बहुत कुछ विनाश कर दिया। रही सही का ध्वंस शीघ्र ही 'लीग' के कठिन और कठोर हाथों से होने जा रहा है। 'इम्तयाज़' की इस सनक का सामना करना राष्ट्रभक्तों का काम है। दीन-परस्तों को चाहिए कि दीन को मजहब से अलग करें और रस्म वो रवाज को आसमानी अथवा किताबी होने से बचा लें।

"अगरच कलंक का टीका मेरे माथे पर लगा, पर ऐसा काम नहीं किया जिससे माँ-बाप के नाम को ऐब लगे। अब यह बड़ा दुख है कि वे दोनों वेश्या मेरे हाथ से बच जावें और आपस में रंगरलियाँ मनावें और मैं उनके हाथों से यह कुछ दुख देखूँ।"—(वही पृ० ३६)।

कलंक का टीका क्यों लगा? अपने कर्मों से नहीं, बल्कि 'कर्म की रेखा' के कारण। किस प्रकार? उसे भी जान लीजिए—

"सो तूने देखा। मैं किसू का बुरा नहीं चाहती थी लेकिन यह ख़राबियाँ क़िस्मत में लिखी थीं। टलती नहीं करम की रेखा। इन आँखों के सबब यह कुछ देखा।"—(वही पृ० ३४)।

आँखों ने क्या कर दिखाया, कुछ इसका भी पता है? बेचारी की जो गति हुई वह यह है—

"वह लड़की अपनी हमजोलियों में बैठी थी और .खुशी से गुड़िया का ब्याह रचाया था। और ढोलक पखावज लिए हुए रतजगे की तैयारी कर रही थी और कड़ाही चढ़ाकर गुलगुले और रहम तलती और बना रही थी कि एकबारगी उसकी माँ रोती-पीटती सर खुले पाँव नंगे बेटी के घर में गई और दो हत्थड़ उस लड़की के सिर पर मारी और कहने लगी 'काश कि तेरे बदले .खुदा अंधा बेटा देता तो मेरा कलेजा ठंडा होता।"—(वही पृ० ६६)।

इतना होने पर भी चैन न मिला। उसको और भी भयानक कष्टों का सामना करना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि—

"उसी तरह तीन दिन रात साफ़ गुज़र गए। मलिकः के मुँह में एक खील भी उड़कर न गई। वह फूल-सा बदन सूखकर काँटा हो गया और वह रंग जो कुंदन सा दमकता था हल्दी सा बन गया। मुँह में फेफड़ी बँध गई। आँखें पथरा गईं। मगर एक दम अटक रहा था कि वह आता जाता था। जब तक साँस तब तक आस।"—(वही पृ० ५३)।

निदान, वह दिन भी आ गया कि

"जाते जाते अचित एक दरिया कि जिसके देखने से कलेजा पानी हो रहा था, कुछ थल बेड़ा न पाया। इलाही अब इस समुंदर से क्योंकर पार उतारें। एक दम इसी सोच में खड़े रहे। आखिर दिल में लहर आई कि मलिकः को यहीं बिठाकर मैं तलाश में नाव-नवाड़ी के जाऊँ। जब तलक असबाव गुज़ारे का हाथ आवे तब तलक वह नाज़नी भी आराम पावे। तब मैंने कहा 'ऐ मलिकः अगर हुक्म हो तो घाट-पाट इस दरिया का देखूँ।' फरमाने लगी 'मैं बहुत थक गई हूँ और भूकी प्यासी हो रही हूँ। ज़रा दम ले लूँ। जब तई तुम पार चलने की कुछ तदबीर करो।' उस जगह एक दरख़्त पीपल का था। बड़ा छत्र बाँधे हुए कि अगर हज़ार सवार आएँ तो धूप-मेंह में उसके तले आराम पाएँ।"—(वही पृ० ३७)।

कुछ भी करो, होनहार होकर ही रहता है। आखिरकार "घोड़ी ने भी जल्दी कर कर अपने तईं मलिकः समेत मेरे पीछे दरिया में गिराया और पैरने लगी। मलिकः ने घबराकर बाग खींची। वह मुँह की नरम थी। उलट गई। मलिकः गोतः

खाकर मय घोड़ी दरिया में डूब गई।......मैं सौदाई और जनूनी हो गया और फ़क़ीर बनकर यही कहता फिरता था—इन नैनों का यही बिसेख, वह भी देखा यह भी देख।"—(वही पृ० १२०)।

बस, अब और देखने की इच्छा नहीं होती। पाठक स्वयं देखें और कहें कि माजरा क्या है। किस तरह मीर अमन की 'उर्दू की हिंदुस्तानी' हिंदियत के साथ रहती है और उर्दू-ए-मुअल्ला के ठेठ तथा संस्कृत शब्दों को समेटे चलती है, भूलकर भी उन्हें 'मतरूक' या हराम नहीं समझती, शब्दों की तरह ही हिंदी भावों, विचारों तथा वस्तुओं को भी अपनाती और अपनी हिंदियत का परिचय देती है। मीर अमन ऐसा क्यों न करें? आखिर वह भी तो हिंद के सपूत हैं और उनका उर्दू-ए-मुअल्ला भी तो हिंद ही में बसा है। फिर वे अरबी-फारसी का वृथा व्यवहार कर उसकी जबान को अजनबी क्यों बनाएँ और प्रमादवश अपने अहंकार की तुष्टि के लिये इसे नबी या इसलाम की सेवा क्यों समझें?

भूलें नहीं, यह देश की वाणी अथवा समूचे राष्ट्र की हिंदुस्तानी नहीं बल्कि 'उर्दू' यानी देहली के शाही दरबार की हिंदुस्तानी है, उस शाही स्थान की जो सदा से मुसलिम शासन का केंद्र रहा है और आज भी उर्दू जबान का घर समझा जाता है। देश की हिंदुस्तानी का स्वरूप मीर अमन की दृष्टि में क्या होता, इसे आप स्वयं समझ सकते हैं और यदि चाहें तो सचमुच आज उसे अपना भी सकते हैं। बस, केवल समझ और साहस की जरूरत है। "साहसे श्रीः प्रतिवसति।"

———